विगतरागभयद्वेषक्रोधादिसर्व-दोषैः सर्वदा मुनिभिर्मननशीलैर्विवेकिभिर्वेदपारगैरवगतवेदार्थ-तत्त्वैर्ज्ञानिभिर्निर्विकल्पः सर्व-विकल्पशून्योऽयमात्मा दृष्ट उपलब्धो वेदान्तार्थतत्परैः प्रपञ्चोपशमः—प्रपञ्चो द्वैतभेदविस्तारस्तस्योपशमोऽभावो यस्मिन्स आत्मा प्रपञ्चोपशमोऽत एवाद्वयो विगतदोषैरेव पण्डितैर्वेदान्तार्थ-तत्परैः संन्यासिभिः परमात्मा द्रष्टुं शक्यः, नान्यै रागादिकलुषित-चेतोभिः स्वपक्षपातिदर्शनैस्तार्किकादिभिरित्यभिप्रायः ॥ ३५ ॥

जिनके राग, भय और क्रोधादि समस्त दोष निवृत्त हो गये हैं उन मुनियों अर्थात् सर्वदा मननशील विवेकियों और वेदके पारगामियों यानी वेदार्थके मर्मज्ञ वेदान्तार्थपरायण तत्त्वज्ञानियोंद्वारा यह सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित निर्विकल्प और प्रपञ्चोपशम—द्वैतरूप भेदके विस्तारका नाम प्रपञ्च है उसकी जिसमें निवृत्ति हो जाती है वह आत्मा प्रपञ्चोपशम है—इसीलिये जो अद्वय है ऐसा यह आत्मा पण्डित यानी वेदान्तार्थमें तत्पर, दोषहीन संन्यासियोंद्वारा ही देखा जा सकता है। जिनके चित्त रागादि दोषसे दूषित हैं और जिनके दर्शन अपने पक्षका आग्रह करनेवाले हैं उन अन्य तार्किकादिको इस आत्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता—यह इसका अभिप्राय है ॥ ३५ ॥



तत्त्वदर्शनका आदेश

यस्मात्सर्वानर्थप्रशमरूपत्वादद्वयं शिवमभयम्—

क्योंकि सम्पूर्ण अनर्थोंका निवृत्तिस्थान होनेसे अद्वयत्व ही मङ्गलमय और अभयरूप है—

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत्स्मृतिम्।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ॥ ३६ ॥

इसलिये इस (आत्मतत्त्व) को ऐसा जानकर अद्वैतमें मनोनिवेश करे और अद्वैततत्त्वको प्राप्तकर लोकमें जडवत् व्यवहार करे॥ ३६॥

अत एवं विदित्वैनमद्वैते स्मृतिं योजयेत्। अद्वैतावगमायैव स्मृतिं कुर्यादित्यर्थः। तच्चाद्वैतमवगम्याहमस्मि परं ब्रह्मेति विदित्वाशनायाद्यतीतं साक्षादपरोक्षादजमात्मानं सर्वलोकव्यवहारातीतं जडवल्लोकमाचरेत्। अप्रख्यापयन्नात्मानमहमेवंविध इत्यभिप्रायः॥ ३६॥

इसलिये इसे ऐसा जानकर अद्वैतमें मनोनिवेश करे; अर्थात् अद्वैतबोधके लिये ही चिन्तन करे और उस अद्वैतको जानकर अर्थात् 'मैं ही परब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान प्राप्तकर, यानी सम्पूर्ण लोकव्यवहारसे शून्य, भोजनेच्छा आदिसे अतीत; साक्षात् अपरोक्ष अजन्मा आत्माको अनुभवकर लोकमें जडवत् आचरण करे। तात्पर्य यह है कि 'मैं ऐसा हूँ' इस प्रकार अपनेको प्रकट न करता हुआ व्यवहार करे॥ ३६॥



तत्त्वदर्शीका आचरण

कया चर्यया लोकमाचरेदित्याह—

लोकमें कैसे व्यवहारसे आचरण करे? इसपर कहते हैं—

निस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत्॥ ३७॥

यतिको स्तुति, नमस्कार और स्वधाकार-(पैत्रकर्म-) से रहित हो चल (शरीर) और अचल-(आत्मा-) में ही विश्राम करनेवाला होकर यादृच्छिक (अनायासलब्ध वस्तुद्वारा सन्तुष्ट रहनेवाला) हो जाना चाहिये॥ ३७॥

स्तुतिनमस्कारादिसर्वकर्मवर्जितस्त्यक्तसर्वबाह्यैषणः प्रतिपन्नपरमहंसपारिव्राज्य इत्यभि-

स्तुति-नमस्कारादि सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित तथा बाह्य एषणाओंका त्यागी हो, अर्थात् "निश्चय इस उस आत्माको जानकर" इत्यादि श्रुति और "जिनकी

प्रायः—"एतं वै तमात्मानं विदित्वा" (बृ० उ० ३ । ५ । १) इत्यादिश्रुतेः; "तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः" (गीता ५ । १७) इत्यादिस्मृतेश्च—चलं शरीरं प्रतिक्षणमन्यथाभावात्, अचलमात्मतत्त्वम्, यदाकदाचिद्भोजनादिव्यवहारनिमित्तमाकाशवदचलं स्वरूपमात्मतत्त्वमात्मनो निकेतमाश्रयमात्मस्थितिं विस्मृत्याहमिति मन्यते यदा तदा चलो देहो निकेतो यस्य सोऽयमेवं चलाचलनिकेतो विद्वान्न पुनर्बाह्यविषयाश्रयः; स च यादृच्छिको भवेत्। यदृच्छाप्राप्तकौपीनाच्छादनग्रासमात्रदेहस्थितिरित्यर्थः॥ ३७॥

बुद्धि, आत्मा और निष्ठा उसीमें लगी हुई हैं तथा जो उसीके शरणापन्न हैं" इस स्मृतिके अनुसार परमहंस पारिव्राज्य भावको प्राप्त हो—प्रतिक्षण अन्यथा भावको प्राप्त होनेवाला होनेसे 'चल' शरीरको कहते हैं तथा 'अचल' आत्मतत्त्वका नाम है—इस प्रकार जब-तब भोजनादि व्यवहारके निमित्तसे आकाशके समान अविचल अपने स्वरूपभूत आत्मतत्त्वको जो अपना निकेत यानी आश्रय है उसे अर्थात् आत्मस्थितिको भूलकर जब 'मैं हूँ' इस प्रकार अभिमान करता है, उस समय 'चल' यानी शरीर ही जिसका निकेत है—इस प्रकार विद्वान् चलाचलनिकेत होकर अर्थात् फिर बाह्य विषयोंका आश्रय न करके यादृच्छिक हो जाय; तात्पर्य यह कि अनायास ही प्राप्त हुए कौपीन, आच्छादन और ग्रासमात्रसे जिसकी देहस्थिति है—ऐसा हो जाय॥ ३७॥

अविचल तत्त्वनिष्ठाका विधान

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत्॥ ३८॥

[फिर वह विवेकी पुरुष] आध्यात्मिक तत्त्वको देखकर और बाह्य तत्त्वका भी अनुभव कर, तत्त्वीभूत और तत्त्वमें ही रमण करनेवाला होकर तत्त्वसे च्युत न हो॥ ३८॥

बाह्यं पृथिव्यादितत्त्वम् आध्यात्मिकं च देहादिलक्षणं रज्जुसर्पादिवत्स्वप्नमायादिवच्च असत् "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इत्यादिश्रुतेः। आत्मा च सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजोऽपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्न आकाशवत्सर्वगतः सूक्ष्मोऽचलो निर्गुणो निष्कलो निष्क्रियः "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८ । १६) इति श्रुतेः। इत्येवं तत्त्वं दृष्ट्वा तत्त्वीभूतस्तदारामो न बाह्यरमणो यथातत्त्वदर्शी कश्चिच्चित्तमात्मत्वेन प्रतिपन्नश्चित्तचलनमनु चलितमात्मानं मन्यमानस्तत्त्वाच्चलितं देहादिभूतमात्मानं कदाचिन्मन्यते प्रच्युतोऽहमात्मतत्त्वादिदानीमिति; समाहिते तु मनसि कदाचित्तत्त्वभूतं प्रसन्नात्मानं मन्यत इदानीमस्मि तत्त्वीभूत इति; न तथात्मविद्भवेत्। आत्मन एकरूपत्वात् स्वरूपप्रच्यवनासम्भवाच्च । सदैव ब्रह्मास्मीत्यप्रच्युतो भवेत्-

पृथिवी आदि बाह्य तत्त्व और देहादिरूप आध्यात्मिक तत्त्व "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इत्यादि श्रुतिके अनुसार रज्जुसर्पादिके समान एवं स्वप्न या मायाके समान मिथ्या हैं; तथा "वह सत्य है, वह आत्मा है और वही तू है" इस श्रुतिके अनुसार आत्मा बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, कारणरहित, कार्यरहित, अन्तर्बाह्यशून्य, परिपूर्ण, आकाशके समान सर्वगत, सूक्ष्म, अचल, निर्गुण, निष्कल और निष्क्रिय है। इस प्रकार तत्त्वका साक्षात्कार कर तत्त्वीभूत और उसीमें रमण करनेवाला होकर अर्थात् बाह्यरत न होकर; जिस प्रकार मनको ही आत्मा माननेवाला कोई अतत्त्वदर्शी पुरुष किसी समय चित्तके चञ्चल होनेपर आत्माको भी चलायमान मानकर अपनेको तत्त्वसे विचलित और देहादिरूप समझकर मानता है कि इस समय मैं तत्त्वसे च्युत हो गया हूँ तथा किसी समय चित्तके समाहित होनेपर अपनेको तत्त्वीभूत और प्रसन्न समझकर मानता है कि इस समय मैं तत्त्वस्थ हूँ उसी प्रकार आत्मवेत्ताको न हो जाना चाहिये; क्योंकि आत्मा सर्वदा एकरूप है और उसका स्वरूपसे च्युत

तत्त्वात्सदाप्रच्युतात्मतत्त्वदर्शनो भवेदित्यभिप्रायः "शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" (गीता १२। १८) "समं सर्वेषु भूतेषु" (गीता १३। २७) इत्यादिस्मृतेः ॥ ३८ ॥

होना भी सम्भव नहीं है। अतः वह सदा ही "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा निश्चयकर तत्त्वसे च्युत न हो; तात्पर्य यह कि सदा ही अच्युत आत्मदर्शी हो, जैसा कि "कुत्ते और चाण्डालमें भी विद्वानोंकी समान दृष्टि होती है" तथा "सम्पूर्ण भूतोंमें समान भावसे स्थित" आदि स्मृतियोंसे प्रमाणित होता है॥ ३८॥



इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ गौडपादीयागमशास्त्रभाष्ये वैतथ्याख्यं द्वितीयं प्रकरणम्॥ २॥



अद्वैतप्रकरण

ओङ्कारनिर्णय उक्तः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत आत्मेति प्रतिज्ञामात्रेण। ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इति च। तत्र द्वैताभावस्तु वैतथ्यप्रकरणेन स्वप्नमायागन्धर्वनगरादिदृष्टान्तैर्दृश्यत्वाद्यन्तवत्त्वादिहेतुभिस्तर्केण च प्रतिपादितः। अद्वैतं किमागममात्रेण प्रतिपत्तव्यमाहोस्वित्तर्केणापीत्यत आह—शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्; तत्कथमित्यद्वैतप्रकरणमारभ्यते। उपास्योपासनादिभेदजातं सर्वं वितथं केवलश्चात्माद्वयः परमार्थ इति स्थितमतीते प्रकरणे; यतः—

[आगमप्रकरणमें] ओङ्कारका निर्णय करते समय यह बात केवल प्रतिज्ञामात्रसे कही है कि आत्मा प्रपञ्चका निवृत्तिस्थान शिव और अद्वैतस्वरूप है तथा ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता। फिर वैतथ्यप्रकरणमें स्वप्न, माया और गन्धर्वनगरादिके दृष्टान्तोंसे दृश्यत्व एवं आदि-अन्तवत्त्व आदि हेतुओंद्वारा तर्कसे भी द्वैतके अभावका प्रतिपादन किया गया। किन्तु वह अद्वैत क्या शास्त्रमात्रसे ही ज्ञातव्य है अथवा तर्कसे भी जाना जा सकता है? इसपर कहते हैं—तर्कसे भी जाना जा सकता है। सो किस प्रकार? इसी बातको बतलानेके लिये अद्वैतप्रकरणका आरम्भ किया जाता है। उपास्य और उपासना आदि सम्पूर्ण भेद मिथ्या है, केवल आत्मा ही अद्वय परमार्थस्वरूप है—यह बात पिछले प्रकरणमें निश्चित हुई है; क्योंकि—

भेददर्शी कृपण है

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः॥ १॥

उपासनाका आश्रय लेनेवाला जीव कार्यब्रह्ममें ही रहता है [अर्थात् उसे ही अपना उपास्य मानता है और समझता है कि] उत्पत्तिसे पूर्व ही सब अज [अर्थात् अजन्मा ब्रह्मस्वरूप] था। इसलिये वह कृपण (दीन) माना गया है॥ १॥

उपासनाश्रित उपासनामात्मनो मोक्षसाधनत्वेन गत उपासकोऽहं ममोपास्यं ब्रह्म। तदुपासनं कृत्वा जाते ब्रह्मणीदानीं वर्तमानोऽजं ब्रह्म शरीरपातादूर्ध्वं प्रतिपत्स्ये प्रागुत्पत्तेश्चाजमिदं सर्वमहं च। यदात्मकोऽहं प्रागुत्पत्तेरिदानीं जातो जाते ब्रह्मणि च वर्तमान उपासनया पुनस्तदेव प्रतिपत्स्य इत्येवमुपासनाश्रितो धर्मः साधको येनैवं क्षुद्रब्रह्मवित्तेनासौ कारणेन कृपणो दीनोऽल्पकः स्मृतो नित्याजब्रह्मदर्शिभिरित्यभिप्रायः। ''यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते'' (के० उ० १।४) इत्यादिश्रुतेस्तलवकाराणाम्॥ १॥

'उपासनाश्रितः'—उपासनाको अपने मोक्षके साधनरूपसे माननेवाला पुरुष अर्थात् 'मैं उपासक हूँ, और ब्रह्म मेरा उपास्य है। उसकी उपासना करके इस समय कार्यब्रह्ममें रहता हुआ शरीरपातके अनन्तर मैं अजन्मा ब्रह्मको प्राप्त हो जाऊँगा तथा उत्पत्तिके पूर्व भी यह सब और मैं अजरूप ही थे। उत्पत्तिसे पूर्व मैं जैसा था अब उत्पन्न होकर जातब्रह्ममें वर्तमान हुआ अन्तमें उपासनाद्वारा मैं फिर उसी रूपको प्राप्त हो जाऊँगा'—इस प्रकार उपासनाका आश्रय लेनेवाला साधक जीव क्योंकि क्षुद्रब्रह्मवेत्ता है, इस कारणसे ही यह सर्वदा अजन्मा ब्रह्मका दर्शन करनेवाले महात्माओंद्वारा कृपण—दीन अर्थात् क्षुद्र माना गया है—यह इसका अभिप्राय है; जैसा कि ''जो वाणीसे प्रकट नहीं होता बल्कि जिससे वाणी प्रकट होती है, वही ब्रह्म है—ऐसा जान; जिसकी तू उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है'' इत्यादि तलवकारश्रुतिसे प्रमाणित होता है॥ १॥



अकार्पण्यनिरूपणकी प्रतिज्ञा

सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मानं प्रतिपत्तुमशक्नुवन्नविद्यया दीनमात्मानं मन्यमानो जातोऽहं जाते

बाहर और भीतर वर्तमान अजन्मा आत्माको प्राप्त करनेमें असमर्थ होनेके कारण अविद्यावश अपनेको दीन माननेवाला पुरुष, क्योंकि 'मैं उत्पन्न हुआ हूँ, उत्पन्न

ब्रह्मणि वर्ते तदुपासनाश्रितः सन्ब्रह्म प्रतिपत्स्य इत्येवं प्रतिपन्नः कृपणो भवति यस्मात्—

हुए ब्रह्ममें ही वर्तमान हूँ और उसकी उपासनाका आश्रय लेकर ही ब्रह्मको प्राप्त होऊँगा, इस प्रकार माननेके कारण दीन है—

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम्।
यथा न जायते किंचिज्जायमानं समन्ततः॥ २॥

इसलिये अब मैं सर्वत्र समानभावको प्राप्त जन्मरहित अकृपणभाव-(अजन्मा ब्रह्म-) का वर्णन करता हूँ [जिससे यह समझमें आ जायगा कि] किस प्रकार सब ओर उत्पन्न होनेपर भी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ॥ २॥

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमकृपण-भावमजं ब्रह्म। तद्धि कार्पण्यास्पदम् "यत्रान्योऽन्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं मर्त्यमसत्" (छा० उ० ७। २४। १) "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६। १। ४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तद्विपरीतं सबाह्याभ्यन्तरमजमकार्पण्यं भूमाख्यं ब्रह्म। यत्प्राप्याविद्याकृतसर्वकार्पण्यनिवृत्तिस्तदकार्पण्यं वक्ष्यामीत्यर्थः।

इसलिये मैं अकार्पण्य अकृपणभाव अर्थात् अजन्मा ब्रह्मका वर्णन करता हूँ। "जहाँ अन्य अन्यको देखता है, अन्यको सुनता है और अन्यको ही जानता है वह अल्प है, वह मरणशील और असत् है" "विकार वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार उपर्युक्त जातब्रह्म तो कृपणताका ही आश्रय है। उससे विपरीत बाहर-भीतर वर्तमान अजन्मा भूमासंज्ञक ब्रह्म अकार्पण्यरूप है, जिसे प्राप्त होनेपर अविद्याकृत सम्पूर्ण कृपणताकी निवृत्ति हो जाती है; उस कृपणभावसे रहित ब्रह्मका मैं वर्णन करूँगा—यह इसका तात्पर्य है।

तदजाति, अविद्यमाना जातिरस्य समतां गतं सर्वसाम्यं गतम्। कस्मात्?

वह अजाति अर्थात् जिसकी जाति न हो और समताको प्राप्त अर्थात् सबकी समानताको प्राप्त है। ऐसा क्यों है?

अवयववैषम्याभावात्। यद्धि सावयवं वस्तु तदवयववैषम्यं गच्छज्जायत इत्युच्यते। इदं तु निरवयवत्वात् समतां गतमिति न कैश्चिदवयवैः स्फुटत्यतोऽजात्यकार्पण्यम् । समन्ततः समन्ताद्यथा न जायते किंचिदल्पमपि न स्फुटति रज्जुसर्पवदविद्याकृतदृष्ट्या जायमानं येन प्रकारेण न जायते सर्वतोऽजमेव ब्रह्म भवति तथा तं प्रकारं शृण्वित्यर्थः॥ २॥

क्योंकि उसमें अवयवोंकी विषमताका अभाव है। जो वस्तु सावयव होती है वह अवयवोंकी विषमताको प्राप्त होनेके कारण 'उत्पन्न होती है' ऐसे कही जाती है। किन्तु यह ब्रह्म तो निरवयव होनेके कारण समताको प्राप्त है, इसलिये किन्हीं भी अवयवोंके रूपमें प्रस्फुटित नहीं होता। अतः यह सब ओरसे अजाति अर्थात् अकार्पण्यरूप है। जिस प्रकार कि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता अर्थात् रज्जु-सर्पके समान आविद्यकदृष्टिसे उत्पन्न होता हुआ भी जिस प्रकार उत्पन्न नहीं होता—सब ओर अजन्मा ब्रह्म ही रहता है उस प्रकारको श्रवण करो—यह इसका अभिप्राय है॥ २॥



जीवकी उत्पत्तिके विषयमें दृष्टान्त

अजाति ब्रह्माकार्पण्यं वक्ष्यामीति प्रतिज्ञातम्। तत्सिद्ध्यर्थं हेतुं दृष्टान्तं च वक्ष्यामीत्याह—

मैं अजन्मा ब्रह्मका जो कृपणभावसे रहित है, वर्णन करता हूँ—ऐसी प्रतिज्ञा की है। उसकी सिद्धिके लिये हेतु और दृष्टान्त भी बतलाता हूँ—इस अभिप्रायसे कहते हैं—

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम्॥ ३॥

आत्मा आकाशके समान है; वह घटाकाशोंके समान जीवरूपसे उत्पन्न हुआ है। तथा [मृत्तिकासे] घटादिके समान देहसंघातरूपसे भी उत्पन्न हुआ कहा जाता है। आत्माकी उत्पत्तिके विषयमें यही दृष्टान्त है॥ ३॥

आत्मा परो हि यस्मादाकाशवत्सूक्ष्मो निरवयवः सर्वगत आकाशवदुक्तो जीवैः क्षेत्रज्ञैर्घटाकाशैरिव घटाकाशतुल्य उदित उक्तः स एवाकाशसमः पर आत्मा।

क्योंकि परमात्मा ही आकाशवत् अर्थात् आकाशके समान सूक्ष्म निरवयव और सर्वगत कहा गया है और वही घटाकाशसदृश क्षेत्रज्ञ जीवोंके रूपमें उत्पन्न हुआ कहा गया है, इसलिये वह परमात्मा ही आकाशके समान है।

अथ वा घटाकाशैर्यथाकाश उदित उत्पन्नस्तथा परो जीवात्मभिरुत्पन्नः। जीवात्मनां परस्मादात्मन उत्पत्तिर्या श्रूयते वेदान्तेषु सा महाकाशाद्घटाकाशोत्पत्तिसमा न परमार्थत इत्यभिप्रायः।

अथवा यों समझो कि जिस प्रकार घटाकाशोंके रूपमें आकाश उत्पन्न हुआ है उसी प्रकार परमात्मा जीवात्माओंके रूपसे उत्पन्न हुआ है। तात्पर्य यह है कि वेदान्तोंमें जो परमात्मासे जीवात्माओंकी उत्पत्ति सुनी जाती है वह महाकाशसे घटाकाशोंकी उत्पत्तिके समान है, परमार्थतः नहीं।

तस्मादेवाकाशाद्घटादयः संघाता यथोत्पद्यन्त एवमाकाशस्थानीयात्परमात्मनः पृथिव्यादिभूतसंघाता आध्यात्मिकाश्च कार्यकरणलक्षणा रज्जुसर्पवद्विकल्पिता जायन्ते। अत उच्यते घटादिवच्च संघातैरुदित इति। यदा मन्दबुद्धिप्रतिपिपादयिषया श्रुत्यात्मनो जातिरुच्यते जीवादीनां तदा जातावुपगम्यमानायामेतन्निदर्शनं दृष्टान्तो यथोदिताकाशवदित्यादिः ॥ ३ ॥

उसी आकाशसे जिस प्रकार घट आदि संघात उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार आकाशस्थानीय परमात्मासे रज्जुमें सर्पके समान विकल्पित हुए पृथिवी आदि भूतसंघात और शरीर तथा इन्द्रियरूप आध्यात्मिकभाव उत्पन्न होते हैं। इसीसे कहा जाता है—घटादिके समान देहादिसंघातरूपसे भी उदित हुआ है। जिस समय मन्दबुद्धि पुरुषोंके प्रति प्रतिपादन करनेकी इच्छासे श्रुतिने आत्मासे जीवादिकी उत्पत्तिका वर्णन किया है उस समय उनकी उत्पत्ति माननेमें यह उपर्युक्त आकाशादिके समान ही निदर्शन-दृष्टान्त है ॥ ३ ॥



जीवके विलीन होनेमें दृष्टान्त

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि॥ ४॥

घटादिके लीन होनेपर जिस प्रकार घटाकाशादि महाकाशमें लीन हो जाते हैं उसी प्रकार जीव इस आत्मामें विलीन हो जाते हैं॥ ४॥

यथा घटाद्युत्पत्त्या घटाकाशाद्युत्पत्तिः; यथा वा घटादिप्रलये घटाकाशादिप्रलयस्तद्वद्देहादिसंघातोत्पत्त्या जीवोत्पत्तिस्तत्प्रलये च जीवानामिहात्मनि प्रलयो न स्वत इत्यर्थः॥ ४॥

जिस प्रकार घटादिकी उत्पत्तिसे घटाकाशादिकी उत्पत्ति होती है और जिस प्रकार घटादिके नाशसे घटाकाशादिका नाश होता है उसी प्रकार देहादि* संघातकी उत्पत्तिसे जीवकी उत्पत्ति होती है और उनका लय होनेपर जीवोंका इस आत्मामें लय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि स्वतः उनका लय नहीं होता॥ ४॥



आत्माकी असङ्गतामें दृष्टान्त

सर्वदेहेष्वात्मैकत्व एकस्मिञ्जननमरणसुखादिमत्यात्मनि सर्वात्मनां तत्सम्बन्धः क्रियाफलसाङ्कर्यं च स्यादिति य आहुर्द्वैतिनस्तान्प्रतीदमुच्यते—

सम्पूर्ण देहोंमें एक ही आत्मा होनेपर तो एक आत्माके जन्म-मरण और सुख-दुःखादिमान् होनेपर सभीको उसका सम्बन्ध होगा तथा कर्म और फलकी संकरता हो जायगी [अर्थात् कर्म किसीका होगा और उसका फल कोई और ही भोगेगा] इस प्रकार जो द्वैतवादी कहते हैं उनके प्रति कहा जाता है—

*यहाँ 'देह' शब्दसे लिङ्ग-देह समझना चाहिये, क्योंकि जीवत्वका नाश लिङ्ग-देहके नाशसे ही हो सकता है, स्थूल-देहके नाशसे नहीं।

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार एक घटाकाशके धूलि और धुएँ आदिसे युक्त होनेपर समस्त घटाकाश उनसे युक्त नहीं होते उसी प्रकार जीव भी सुखादि धर्मोंसे लिप्त नहीं होते। [अर्थात् एक जीवके सुखादिमान् होनेपर सब जीव सुखादिमान् नहीं हो जाते] ॥ ५ ॥

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते संयुक्ते न सर्वे घटाकाशादयस्तद्रजोधूमादिभिः संयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः।

जिस प्रकार एक घटाकाशके धूलि और धुएँसे युक्त होनेपर समस्त घटाकाशादि उस धूलि और धुएँसे संयुक्त नहीं होते उसी प्रकार जीव भी सुखादिसे लिप्त नहीं होते।

नन्वेक एवात्मा?

पूर्व०—आत्मा तो एक ही है न?

बाढम्; ननु न श्रुतं त्वयाकाशवत्सर्वसंघातेष्वेक एवात्मेति?

सिद्धान्ती—हाँ, क्या तूने यह नहीं सुना कि सम्पूर्ण संघातोंमें आकाशके समान व्याप्त एक ही आत्मा है?

यद्येक एवात्मा तर्हि सर्वत्र सुखी दुःखी च स्यात्।

पूर्व०—यदि आत्मा एक ही है तो वह सर्वत्र सुखी-दुःखी होगा।

न चेदं सांख्यचोद्यं सम्भवति।

आत्मैकत्वे सांख्याक्षेपनिवृत्तिः

न हि सांख्य आत्मनः सुखदुःखादिमत्त्वमिच्छति बुद्धिसमवायाभ्युपगमात्सुखदुःखादीनाम्। न चोपलब्धिस्वरूपस्यात्मनो भेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति।

सिद्धान्ती—सांख्यवादीकी यह आपत्ति सम्भव नहीं है। सांख्य आत्माका सुख-दुःखादिमत्त्व स्वीकार नहीं करता, क्योंकि सुख-दुःखादि तो बुद्धिसमवेत माने गये हैं तथा इसके सिवा अनुभवस्वरूप आत्माकी भेदकल्पनामें कोई प्रमाण भी नहीं है।

भेदाभावे प्रधानस्य पारार्थ्यानुपपत्तिरिति चेत्, न; प्रधानकृतस्यार्थस्यात्मन्यसमवायात्। यदि हि प्रधानकृतो बन्धो मोक्षो वार्थः पुरुषेषु भेदेन समवैति ततः प्रधानस्य पारार्थ्यमात्मैकत्वे नोपपद्यत इति युक्ता पुरुषभेदकल्पना। न च सांख्यैर्बन्धो मोक्षो वार्थः पुरुषसमवेतोऽभ्युपगम्यते। निर्विशेषाश्च चेतनमात्रा आत्मानोऽभ्युपगम्यन्ते। अतः पुरुषसत्तामात्रप्रयुक्तमेव प्रधानस्य पारार्थ्यं सिद्धं न तु पुरुषभेदप्रयुक्तमिति। अतः पुरुषभेदकल्पनायां न प्रधानस्य पारार्थ्यं हेतुः।

यदि कहो कि भेद न होनेपर तो प्रधानकी परार्थता भी सम्भव नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि प्रधानद्वारा सम्पादित कार्यका आत्माके साथ सम्बन्ध नहीं है। यदि प्रधानकर्तृक बन्ध या मोक्ष पुरुषोंमें पृथक्-पृथक्रूपसे समवेत होते तो आत्माका एकत्व माननेमें प्रधानकी परार्थता सम्भव नहीं हो सकती थी और तब पुरुषोंके भेदकी कल्पना करनी ठीक थी। किन्तु सांख्यवादी तो बन्ध या मोक्षको पुरुषसे सम्बद्ध ही नहीं मानते; वे तो आत्माओंको निर्विशेष और चेतनमात्र ही मानते हैं। अतः प्रधानकी परार्थता तो केवल पुरुषकी सत्तामात्रसे ही सिद्ध है, पुरुषोंके भेदके कारण नहीं। इसलिये पुरुषोंकी भेदकल्पनामें प्रधानकी परार्थता कारण नहीं है।

न चान्यत्पुरुषभेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति सांख्यानाम्। परसत्तामात्रमेव चैतन्निमित्तीकृत्य स्वयं बध्यते मुच्यते च प्रधानम्। परश्चोपलब्धिमात्रसत्तास्वरूपेण प्रधानप्रवृत्तौ हेतुर्न केनचिद्विशेषेणेति केवलमूढतयैव पुरुषभेदकल्पना वेदार्थपरित्यागश्च।

इसके सिवा सांख्यवादियोंके पास पुरुषोंका भेद माननेमें और कोई प्रमाण नहीं है। पर-(आत्मा) की सत्तामात्रको ही निमित्त बनाकर प्रधान स्वयं बन्ध और मोक्षको प्राप्त होता है और वह पर केवल उपलब्धिमात्र सत्तास्वरूपसे ही प्रधानकी प्रवृत्तिमें हेतु है, किसी विशेषताके कारण नहीं। अतः केवल मूढ़तासे ही पुरुषोंकी भेदकल्पना और वेदार्थका परित्याग किया जाता है।

वैशेषिकमत-समीक्षा

ये त्वाहुर्वैशेषिकादय इच्छादय आत्मसमवायिन इति; तदप्यसत्। स्मृतिहेतूनां संस्कारणामप्रदेशवत्यात्मन्यसमवायात् । आत्ममनःसंयोगाच्च स्मृत्युत्पत्तेः स्मृतिनियमानुपपत्तिः। युगपद्वा सर्वस्मृत्युत्पत्तिप्रसङ्गः।

इसके सिवा वैशेषिकादि मतावलम्बी जो कहते हैं कि इच्छा आदि आत्माके धर्म हैं, सो उनका यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्मृतिके हेतुभूत संस्कारोंका प्रदेशहीन (निरवयव) आत्मासे समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि आत्मा और मनके संयोगसे स्मृतिकी उत्पत्ति मानी जाय तो स्मृतिका कोई नियम ही सम्भव नहीं है अथवा एक साथ ही सम्पूर्ण स्मृतियोंकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा।*

मन आदिभिः आत्मसंयोगानुपपत्तिः

न च भिन्नजातीयानां स्पर्शादिहीनानामात्मनां मन आदिभिः सम्बन्धो युक्तः। न च द्रव्याद्रूपादयो गुणाः कर्मसामान्यविशेषसमवाया वा भिन्नाः सन्ति परेषाम्। यदि

इसके सिवा स्पर्शादिसे रहित भिन्नजातीय आत्माओंका मन आदिके साथ सम्बन्ध मानना ठीक भी नहीं है। तथा दूसरोंके मतमें द्रव्यसे रूप आदि उसके गुण एवं कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय भिन्न भी नहीं हैं† यदि दूसरोंके

* उस समय ऐसा नियम नहीं हो सकेगा कि वस्तुके प्रत्यक्ष अनुभवके समय उसकी स्मृति न हो, क्योंकि स्मृतिका असमवायी कारण आत्मा और मनका संयोग तो अनुभवकालमें भी है ही। इसके सिवा असमवायी कारणकी तुल्यताके कारण एक साथ समस्त स्मृतियोंकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग भी उपस्थित हो जायगा। यदि कहो कि स्मृतिके संस्कारोंका उद्बोध न होनेके कारण एक साथ स्मृति नहीं हो सकती तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि संस्कार और उनका उद्बोध ये दोनों आत्मामें ही रहते हैं—इस विषयमें उनका एक मत नहीं है। इसलिये इनकी गणना स्मृतिकी सामग्रीके अन्तर्गत नहीं हो सकती।

† वैशेषिक मतमें साधारणतया द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छः प्रकारके भाव पदार्थ हैं। उनमें द्रव्य उसे कहते हैं जिसके साथ गुण एवं क्रिया आदि समवाय-सम्बन्धसे रहें। गुण—रूप, रस एवं गन्ध आदिको कहते हैं। कर्म—गमनादि क्रिया। सामान्य—जाति, मनुष्यत्व, पशुत्वादि। विशेष—परमाणुओंका

ह्यत्यन्तभिन्ना एव द्रव्यात्स्युरिच्छादयश्चात्मनस्तथा च सति द्रव्येण तेषां सम्बन्धानुपपत्तिः।

अयुतसिद्धानां समवायलक्षणः सम्बन्धो न विरुध्यत इति चेत्, न। इच्छादिभ्योऽनित्येभ्य आत्मनो नित्यस्य पूर्वसिद्धत्वान्नायुतसिद्धत्वोपपत्तिः। आत्मनायुतसिद्धत्वे चेच्छादीनामात्मगतमहत्त्ववन्नित्यत्वप्रसङ्गः। स चानिष्टः। आत्मनोऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात्।

समवायस्य च द्रव्यादन्यत्वे सति द्रव्येण सम्बन्धान्तरं वाच्यं यथा द्रव्यगुणयोः। समवायो नित्यसम्बन्ध एवेति न वाच्यमिति

मतमें वे इच्छा आदि द्रव्यसे तथा आत्मासे अत्यन्त भिन्न ही हों तो ऐसा होनेपर तो द्रव्यके साथ उनका सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि कहो कि अयुतसिद्ध[1] पदार्थोंका समवाय-सम्बन्ध माननेमें विरोध नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; [2] क्योंकि इच्छा आदि अनित्य धर्मोंसे नित्य आत्मा पूर्वसिद्ध होनेके कारण उनका परस्पर अयुतसिद्धत्व सम्भव नहीं है। यदि इच्छा आदि आत्माके साथ अयुतसिद्ध हों तो आत्मगत महत्त्वके समान उनकी भी नित्यताका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। और यह बात इष्ट नहीं है, क्योंकि इससे आत्माके अनिर्मोक्षका प्रसङ्ग आ जाता है।

यदि समवाय द्रव्यसे भिन्न है तो द्रव्यके साथ उसका कोई अन्य सम्बन्ध बतलाना चाहिये, जैसा कि द्रव्य और गुणका है। और यदि कोई कहे कि समवाय तो नित्यसम्बन्ध ही है, इसलिये

परस्पर भेद करनेवाला धर्म, जिसके कारण विभिन्न प्रकारके परमाणुओंसे विभिन्न प्रकारका कार्य उत्पन्न होता है। समवाय—एक प्रकारका सम्बन्ध जैसा कि गुण एवं क्रिया आदिका द्रव्यके साथ है।

१.जो पदार्थ परस्पर मिलकर सिद्ध हुए हों।

२-अयुतसिद्धत्वमें चार पक्ष हैं—१ अभिन्नकालमें होना, २ अभिन्न देशमें होना, ३ अभिन्न स्वभाववाले होना, ४ संयोग और वियोगकी अयोग्यतावाले होना। उनमेंसे प्रथम पक्षका खण्डन करते हैं—

चेत्तथा च समवायसम्बन्धवतां नित्यसम्बन्धप्रसङ्गात्पृथक्त्वानुपपत्तिः। अत्यन्तपृथक्त्वे च द्रव्यादीनां स्पर्शवदस्पर्शद्रव्ययोरिव षष्ठ्यर्थानुपपत्तिः।

आत्मनो व्यावहारिकबन्धमोक्षाद्युपपादनम्

इच्छाद्युपजनापायवद्गुणवत्त्वे चात्मनोऽनित्यत्वप्रसङ्गः। देहफलादिवत्सावयवत्वं विक्रियावत्त्वं च देहादिवदेवेति दोषावपरिहार्यौ। यथा त्वाकाशस्याविद्याध्यारोपितरजोधूममलवत्त्वादिदोषवत्त्वं तथात्मनोऽविद्याध्यारोपितबुद्ध्याद्युपाधिकृतसुखदुःखादिदोषवत्त्वं बन्धमोक्षादयो व्यावहारिका न विरुध्यन्ते। सर्ववादिभिरविद्याकृतव्यवहाराभ्युपगमात्परमार्थानभ्युपगमाच्च। तस्मादात्मभेदपरिकल्पना वृथैव तार्किकैः क्रियत इति॥ ५॥

उसके साथ कोई सम्बन्ध बतलानेकी आवश्यकता नहीं है तो ऐसी अवस्थामें समवाय-सम्बन्धवालोंका नित्यसम्बन्ध होनेके कारण उनकी पृथकृता सम्भव नहीं है। और यदि द्रव्यादिको परस्पर अत्यन्त भिन्न माना जाय तो जिस प्रकार स्पर्शवान् और स्पर्शहीन द्रव्योंमें परस्पर सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार उसका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता।

यदि आत्माको इच्छादि उत्पत्तिविनाशशील गुणोंवाला माना जाय तो उसकी अनित्यताका प्रसंग उपस्थित हो जायगा तथा उसके देह और फलादिके समान सावयवत्व एवं देहादिके समान ही विक्रियावत्त्व—ये दो दोष भी अपरिहार्य ही होंगे। जिस प्रकार कि आकाशका अविद्याध्यारोपित घटादि उपाधियोंके कारण ही धूलि, धूम और मलसे युक्त होना है उसी प्रकार आत्माका भी, अविद्यासे आरोपित बुद्धि आदि उपाधिके कारण सुख-दुःखादि दोषसे युक्त होनेपर, व्यावहारिक बन्ध, मोक्ष आदि होनेमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि सभी वादियोंने व्यवहारको अविद्याकृत माना है, परमार्थरूप नहीं माना। अतः तार्किकलोग जीवोंके भेदकी कल्पना वृथा ही करते हैं॥ ५॥

व्यावहारिक जीवभेद

कथं पुनरात्मभेदनिमित्त इव व्यवहार एकस्मिन्नात्मन्यविद्याकृत उपपद्यत इति, उच्यते—

किन्तु एक ही आत्मामें, आत्माओंके भेदके कारण होनेवालेके समान अविद्याकृत व्यवहार किस प्रकार सम्भव है? इसपर कहते हैं—

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः ॥ ६ ॥

[घटादि उपाधियोंके कारण प्रतीत होनेवाले] भिन्न-भिन्न आकाशोंके रूप, कार्य और नामोंमें तो भेद है, परन्तु आकाशमें तो कोई भेद नहीं है। उसी प्रकार जीवोंके विषयमें भी निश्चय समझना चाहिये॥ ६ ॥

यथेहाकाश एकस्मिन्घटकरकापवरकाद्याकाशानामल्पत्वमहत्त्वादिरूपाणि भिद्यन्ते तथा कार्यमुदकाहरणधारणशयनादिसमाख्याश्च घटाकाशकरकाकाश इत्याद्यास्तत्कृताश्च भिन्ना दृश्यन्ते। तत्र तत्र वै व्यवहारविषय इत्यर्थः। सर्वोऽयमाकाशे रूपादिभेदकृतो व्यवहारो न परमार्थ एव। परमार्थतस्त्वाकाशस्य न भेदोऽस्ति। न चाकाशभेदनिमित्तो व्यवहारोऽस्त्यन्तरेण परोपाधिकृतं द्वारम्।

जिस प्रकार इस एक ही आकाशमें घट, कमण्डलु और मठादि आकाशोंके अल्पत्व-महत्त्वादि रूपोंमें भेद है, तथा जहाँ-तहाँ व्यवहारमें उनके किये हुए जल लाना, जल धारण करना और शयन करना आदि कार्य एवं घटाकाश करकाकाश आदि नाम भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। किन्तु आकाशमें रूपादिके कारण होनेवाला यह सब व्यवहार पारमार्थिक ही नहीं है। परमार्थतः तो आकाशका कोई भेद नहीं है। अन्य उपाधिकृत निमित्तके सिवा वस्तुतः आकाशके भेदके कारण होनेवाला कोई व्यवहार है ही नहीं। जैसा कि यह [आकाशका भेद] है उसी प्रकार देहादि उपाधिके भेदसे किये हुए

यथैतत्तद्वद्देहोपाधिभेदकृतेषु जीवेषु घटाकाशस्थानीयेष्वात्मसु निरूपणात्कृतो बुद्धिमद्भिर्निर्णयो निश्चय इत्यर्थः॥ ६॥

घटाकाशस्थानीय जीवोंमें भेदका निरूपण किया जानेके कारण बुद्धिमानोंने [उस भेदका अपारमार्थिकत्व] निश्चय किया है—यह इसका तात्पर्य है॥ ६॥



जीव आत्माका विकार या अवयव नहीं है

ननु तत्र परमार्थकृत एव घटाकाशादिषु रूपकार्यादिभेदव्यवहार इति? नैतदस्ति, यस्मात्

किन्तु घटाकाशादिमें जो रूप और कार्य आदिका भेद-व्यवहार है वह तो वास्तविक ही है? [ऐसी शंका होनेपर कहते हैं—] यह बात नहीं है, क्योंकि—

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा।
नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा॥ ७॥

जिस प्रकार घटाकाश आकाशका विकार या अवयव नहीं है उसी प्रकार जीव भी आत्माका विकार या अवयव कभी नहीं है॥ ७॥

परमार्थाकाशस्य घटाकाशो न विकारः; यथा सुवर्णस्य रुचकादिर्यथा वापां फेनबुद्बुदहिमादिः; नाप्यवयवो यथा वृक्षस्य शाखादिः। न तथा आकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा तथा नैवात्मनः परस्य परमार्थसतो महाकाशस्थानीयस्य घटाकाशस्थानीयो जीवः

परमार्थाकाशका घटाकाश न तो विकार है, जैसे कि सुवर्णके रुचकादि आभूषण तथा जलके फेन, बुद्बुद और हिम आदि हैं, और न जैसे शाखादि वृक्षके अवयव हैं उस प्रकार उसका अवयव ही है। इसी तरह, जैसे कि महाकाशका घटाकाश विकार या अवयव नहीं है उसी प्रकार अर्थात् उपर्युक्त दृष्टान्तानुसार ही, महाकाशस्थानीय परमार्थ सत् परमात्माका घटाकाशस्थानीय जीव,

सदा सर्वदा यथोक्तदृष्टान्तवन्न विकारो नाप्यवयवः। अत आत्मभेदकृतो व्यवहारो मृषैवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

किसी अवस्थामें विकार या अवयव नहीं है। अतः तात्पर्य यह है कि आत्मभेदजनित व्यवहार मिथ्या ही है ॥ ७ ॥



आत्माकी मलिनता अज्ञानियोंकी दृष्टिमें है

यस्माद्यथा घटाकाशादिभेदबुद्धिनिबन्धनो रूपकार्यादिभेदव्यवहारस्तथा देहोपाधिजीवभेदकृतो जन्ममरणादिव्यवहारः। तस्मात्तत्कृतमेव क्लेशकर्मफलमलवत्त्वमात्मनो न परमार्थत इत्येतमर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपिपादयिषन्नाह—

क्योंकि जिस प्रकार घटाकाशादि भेदबुद्धिके कारण उसका रूप एवं कार्य आदि भेदव्यवहार है उसी प्रकार देहोपाधिक जीवभेदके कारण ही जन्म-मरण आदि व्यवहार है; इसलिये उसका किया हुआ ही आत्माका क्लेश, कर्मफल और मलसे युक्त होना है, परमार्थतः नहीं—इसी बातको दृष्टान्तसे प्रतिपादन करनेकी इच्छासे कहते हैं—

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः।
तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार मूर्ख लोगोंको [धूलि आदि] मलके कारण आकाश मलिन जान पड़ता है उसी प्रकार अविवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें आत्मा भी [राग-द्वेषादि] मलसे मलिन हो जाता है ॥ ८ ॥

यथा भवति लोके बालानामविवेकिनां गगनमाकाशं घनरजोधूमादिमलैर्मलिनं मलवन्न

लोकमें जिस प्रकार बाल अर्थात् अविवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें आकाश मेघ, धूलि और धुआँ आदि मलोंके कारण मलिन—मलयुक्त हो जाता है, किन्तु

गगनं मलवद्याथात्म्यविवेकिनाम्, तथा भवत्यात्मा परोऽपि यो विज्ञाता प्रत्यक्क्लेशकर्मफलमलैर्मलिनोऽबुद्धानां प्रत्यगात्मविवेकरहितानां नात्मविवेकवताम्।

नह्यूषरदेशस्तृड्वत्प्राण्यध्यारोपितोदकफेनतरङ्गादिमांस्तथा नात्माबुधारोपितक्लेशादिमलैर्मलिनो भवतीत्यर्थः॥ ८॥

आकाशके यथार्थ स्वरूपको जाननेवालोंकी दृष्टिमें ऐसा नहीं होता; उसी प्रकार अबुद्ध-प्रत्यगात्माके विवेकसे रहित पुरुषोंकी दृष्टिमें, जो प्रत्यक् और सबका साक्षी है वह परात्मा भी क्लेश, कर्म और फलरूप मलोंसे मलिन हो जाता है; किन्तु आत्मज्ञानियोंकी दृष्टिमें ऐसा नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ऊसरदेश तृषित प्राणीके आरोपित किये हुए जलके फेन और तरङ्गादिसे युक्त नहीं होता उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानियोंद्वारा आरोपित क्लेशादि मलोंसे मलिन नहीं होता॥ ८॥



पुनरप्युक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—

फिर भी पूर्वोक्त अर्थका ही विस्तार कहते हैं—

मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोरपि।
स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षणः॥ ९॥

यह आत्मा सम्पूर्ण शरीरोंमें मृत्यु, जन्म, लोकान्तरमें गमनागमन और स्थित रहनेमें भी आकाशसे अविलक्षण है। [अर्थात् इन सब व्यवहारोंमें रहते हुए भी यह आकाशके समान निर्विकार और विभु है]॥ ९॥

घटाकाशजन्मनाशगमनागमनस्थितिवत्सर्वशरीरेष्वात्मनो जन्ममरणादिराकाशेनाविलक्षणः प्रत्येतव्य इत्यर्थः॥ ९॥

घटाकाशके जन्म, नाश, गमन, आगमन और स्थितिके समान सम्पूर्ण शरीरोंमें आत्माके जन्म-मरणादिको आकाशसे अविलक्षण (भेदरहित) ही अनुभव करना चाहिये—यह इसका अभिप्राय है॥ ९॥



संघाताः स्वप्नवत्सर्वे आत्ममायाविसर्जिताः।
आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते॥ १०॥

देहादि समस्त संघात स्वप्नके समान आत्माकी मायासे ही रचे हुए हैं। उनके अपेक्षाकृत उत्कर्ष अथवा सबकी समानतामें भी कोई हेतु नहीं है॥ १०॥

घटादिस्थानीयास्तु देहादिसंघाताः स्वप्नदृश्यदेहादिवन्मायाविकृतदेहादिवच्चात्ममायाविसर्जिताः; आत्मनो मायाविद्या तया प्रत्युपस्थापिता न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः। यद्याधिक्यमधिकभावस्तिर्यग्देहाद्यपेक्षया देवादिकार्यकरणसंघातानां यदि वा सर्वेषां समतैव नैषामुपपत्तिः सम्भवः सद्भावप्रतिपादको हेतुर्विद्यते नास्ति, हि यस्मात्तस्मादविद्याकृता एव न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः॥ १०॥

घटादिस्थानीय देहादिसंघात स्वप्नमें दीखनेवाले देहादिके समान तथा मायावीके रचे हुए देहादिके सदृश आत्माकी मायासे ही रचे हुए हैं। तात्पर्य यह है कि आत्माकी माया जो अविद्या है उसके प्रस्तुत किये हुए हैं, परमार्थतः नहीं हैं। यदि तिर्यगादि देहोंकी अपेक्षा देवता आदिके शरीर और इन्द्रियोंकी अधिकता—उत्कृष्टता है अथवा यदि [तत्त्वदृष्टिसे] सबकी समानता ही है, तो भी, क्योंकि उनके सद्भावका प्रतिपादक कोई हेतु नहीं है, इसलिये वे अविद्याकृत ही हैं, परमार्थतः नहीं हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है॥ १०॥



उत्पत्त्यादिवर्जितस्याद्वयस्यात्मतत्त्वस्य श्रुतिप्रमाणकत्वप्रदर्शनार्थं वाक्यान्युपन्यस्यन्ते—

उत्पत्ति आदिसे रहित अद्वितीय आत्मतत्त्वका श्रुतिप्रमाणकत्व प्रदर्शित करनेके लिये [उपनिषद्के] वाक्योंका उल्लेख किया जाता है—

रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके।
तेषामात्मा परो जीवः खं यथा संप्रकाशितः॥ ११॥

तैत्तिरीय श्रुतिमें जिन रसादि [अन्नमयादि] कोशोंकी व्याख्या की गयी है, आकाशवत् परमात्मा ही उनके आत्मा जीवरूपसे प्रकाशित किया गया है ॥ ११ ॥

रसादयोऽन्नरसमयः प्राणमय इत्येवमादयः कोशा इव कोशा अस्यादेरिवोत्तरोत्तरस्यापेक्षया बहिर्भावात्पूर्वपूर्वस्य व्याख्याता विस्पष्टमाख्यातास्तैत्तिरीयके तैत्तिरीयकशाखोपनिषद्वल्ल्यां तेषां कोशानामात्मा येनात्मना पञ्चापि कोशा आत्मवन्तोऽन्तरतमेन, स हि सर्वेषां जीवननिमित्तत्वज्जीवः।

कोऽसावित्याह—पर एवात्मा यः पूर्वं ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै० उ० २। १) इति प्रकृतः। यस्मादात्मनः स्वप्नमायादिवदाकाशादिक्रमेण रसादयः कोशलक्षणाः संघाता आत्ममायाविसर्जिता इत्युक्तम्। स आत्मास्माभिर्यथा खं तथेति संप्रकाशित ''आत्मा ह्याकाशवत्'' (अद्वैत० ३) इत्यादिश्लोकैः। न तार्किकपरिकल्पितात्मवत्पुरुषबुद्धिप्रमाणगम्य इत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

तैत्तिरीयकमें अर्थात् तैत्तिरीयकशाखोपनिषद्वल्लीमें जिन रसादि—अन्नरसमय एवं प्राणमय इत्यादि कोशोंकी व्याख्या—स्पष्ट विवेचना की गयी है और जो उत्तरोत्तरकी अपेक्षा पूर्व-पूर्व बहिःस्थित होनेके कारण खड्गके कोशके समान कोश कहे गये हैं उन कोशोंका आत्मा, जिस अन्तरतम आत्माके कारण पाँचों कोश आत्मवान् हैं, वही सबके जीवनका निमित्त होनेके कारण 'जीव' कहलाता है।

वह कौन है? इसपर कहते हैं—वह परमात्मा ही है, जिसका पहले ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्यादि वाक्योंमें प्रसङ्ग है और जिस आत्मासे स्वप्न और माया आदिके समान आकाशादि क्रमसे कोशरूप संघात आत्माकी मायासे ही रचे गये हैं—ऐसा कहा गया है। उस आत्माको हमने ''आत्मा ह्याकाशवत्'' इत्यादि श्लोकोंमें, जैसा आकाश है उसीके समान प्रकाशित किया है। तात्पर्य यह है कि वह तार्किकोंके कल्पना किये हुए आत्माके समान मनुष्यकी बुद्धिसे प्रमाणित होनेवाला नहीं है ॥ ११ ॥

द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितम्।
पृथिव्यामुदरे चैव यथाकाशः प्रकाशितः॥ १२॥

लोकमें जिस प्रकार पृथिवी और उदरमें एक ही आकाश प्रकाशित हो रहा है उसी प्रकार [बृहदारण्योक्त] मधु ब्राह्मणमें [अध्यात्म और अधिदैवत—इन] दोनों स्थानोंमें एक ही ब्रह्म निरूपित किया गया है॥ १२॥

किं चाधिदैवमध्यात्मं च तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः पृथिव्याद्यन्तर्गतो यो विज्ञाता पर एवात्मा ब्रह्म सर्वमिति द्वयोर्द्वयोराद्वैतक्षयात्परं ब्रह्म प्रकाशितम्। क्वेत्याह—ब्रह्मविद्याख्यं मध्वमृतममृतत्वं मोदनहेतुत्वाद्विज्ञायते यस्मिन्निति मधुज्ञानं मधुब्राह्मणं तस्मिन्नित्यर्थः। किमिवेत्याह—पृथिव्यामुदरे चैव यथैक आकाशोऽनुमानेन प्रकाशितो लोके तद्वदित्यर्थः॥ १२॥

तथा अधिदैवत और अध्यात्मभेदसे जो तेजोमय और अमृतमय पुरुष पृथिवीके भीतर है और जो विज्ञाता परमात्मा ब्रह्म ही सब कुछ है—इस प्रकार द्वैतका क्षय होनेपर्यन्त दोनों स्थानोंमें परब्रह्मका ही प्रतिपादन किया गया है। कहाँ किया गया है? सो बतलाते हैं—जिसमें ब्रह्मविद्यासंज्ञक मधु यानी अमृतका ज्ञान है—आनन्दका हेतु होनेके कारण उसका अमृतत्व है—उस मधुज्ञान यानी मधुब्राह्मणमें [उसका प्रतिपादन किया गया है]। किसके समान प्रतिपादन किया है? इसपर कहते हैं कि जिस प्रकार लोकमें अनुमानसे पृथिवी और उदरमें एक ही आकाश प्रकाशित होता है, उसी तरह [इनकी एकता समझो] यह इसका अभिप्राय है॥ १२॥



आत्मैकत्व ही समीचीन है

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम्॥ १३॥

क्योंकि जीव और आत्माके अभेदरूपसे एकत्वकी प्रशंसा की गयी है और उनके नानात्वकी निन्दा की गयी है, इसलिये वही [यानी उनकी एकता ही] ठीक है॥ १३॥

यद्युक्तितः श्रुतितश्च निर्धारितं जीवस्य परस्य चात्मनो जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते स्तूयते शास्त्रेण व्यासादिभिश्च। यच्च सर्वप्राणिसाधारणं स्वाभाविकं शास्त्रबहिष्कृतैः कुतार्किकैर्विरचितं नानात्वदर्शनं निन्द्यते ''न तु तद्द्वितीयमस्ति'' (बृ० उ०। ४। ३। २३) ''द्वितीयाद्वै भयं भवति'' (बृ० उ० १। ४। २) ''उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति'' (तै० उ० २। ७। १) ''इदं सर्वं यदयमात्मा'' (बृ० उ० २। ४। ६; ४। ५। ७) ''मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'' (क० उ० २। १। १०) इत्यादिवाक्यैश्चान्यैश्च ब्रह्मविद्भिः। यच्चैतत्तदेवं हि समञ्जसमृज्ववबोधं न्याय्यमित्यर्थः। यास्तु तार्किकपरिकल्पिताः कुदृष्टयस्ता अनृज्व्यो

क्योंकि युक्ति और श्रुतिसे निश्चय किये हुए जीव और परमात्माके एकत्वकी शास्त्र और व्यासादि मुनियोंने समानरूपसे प्रशंसा यानी स्तुति की है और शास्त्रबाह्य कुतार्किकोंद्वारा कल्पित सर्वप्राणिसाधारण स्वाभाविक नानात्वदर्शनकी ''उससे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है'' ''दूसरेसे निश्चय भय होता है'' ''जो थोड़ा-सा भी भेद करता है, उसे भय प्राप्त होता है'' ''यह जो कुछ है सब आत्मा है'' ''जो यहाँ नानावत् देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है'' इत्यादि वाक्यों तथा अन्य ब्रह्मवेत्ताओंद्वारा निन्दा की गयी है। यह जो [बतलाया गया] है वह इसी प्रकार समञ्जस—सरल बोधगम्य अर्थात् न्याययुक्त है तथा तार्किकोंकी कल्पना की हुई जो कुदृष्टियाँ हैं वे सरल नहीं हैं; अभिप्राय यह है

प्रतिपिपादयिषितम् ''तत्त्वमसि'' (छा० उ० ६ । ८—१६) ''अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद'' (बृ० उ० १ । ४ । १०) इत्यादिभिः। अत उपनिषत्सु एकत्वं श्रुत्या प्रतिपिपादयिषितं भविष्यतीति भाविनीमेकवृत्तिमाश्रित्य लोके भेददृष्ट्यनुवादो गौण एवेत्यभिप्रायः।

जो जानता है] वह नहीं जानता'' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार उत्पत्ति-प्रलयादि-बोधक वाक्योंसे भी जीव और परमात्माका एकत्व ही प्रतिपादन करना इष्ट है। अतः उपनिषदोंमें श्रुतिको एकत्व ही प्रतिपादन करना इष्ट होगा—इस भविष्यद्वृत्तिको आश्रय करके लोकमें भेददृष्टिका अनुवाद गौण ही है—यह इसका अभिप्राय है।

अथ वा ''तदैक्षत'' (छा० उ० ६। २। ३) ''तत्तेजोऽसृजत'' (छा० उ० ६ । २ । ३) इत्याद्युत्पत्तेः प्राक् ''एकमेवाद्वितीयम्'' (छा० उ० ६ । २ । २) इत्येकत्वं प्रकीर्तितम्। तदेव च ''तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि'' (छा० उ० ६ । ८—१६) इत्येकत्वं भविष्यतीति तां भविष्यद्वृत्तिमपेक्ष्य यज्जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्र क्वचिद्वाक्ये गम्यमानं तद्गौणम्, यथौदनं पचतीति तद्वत्॥ १४॥

अथवा ''उसने ईक्षण किया'' ''उसने तेजको रचा'' इत्यादि श्रुतियोंद्वारा जो उत्पत्तिसे पूर्व ''एकमेवाद्वितीयम्'' इत्यादि प्रकारसे एकत्वका निरूपण किया है वह ''वह सत्य है, वह आत्मा है और वही तू है'' इस प्रकार आगे एकत्व हो जायगा इस भविष्यद्वृत्तिसे जहाँ कहीं किसी वाक्यमें जीव और आत्माका पृथक्त्व जाना गया है उसी प्रकार—गौण है, जैसे कि 'भात पकाता है' इस वाक्यमें ['भात' शब्दका प्रयोग] ॥ १४ ॥



दृष्टान्तयुक्त उत्पत्ति-श्रुतिकी व्यवस्था

ननु यद्युत्पत्तेः प्रागजं सर्वमेकमेवाद्वितीयं तथाप्युत्पत्तेरूर्ध्वं

यदि कहो कि उत्पत्तिसे पूर्व तो सब अजन्मा तथा एक ही अद्वितीय है तथापि उसके पीछे तो सब उत्पन्न

जातमिदं सर्वं जीवाश्च भिन्ना इति, मैवम्; अन्यार्थत्वादुत्पत्तिश्रुतीनाम्। पूर्वमपि परिहृत एवायं दोषः स्वप्नवदात्ममायाविसर्जिताः संघाता घटाकाशोत्पत्तिभेदादिवज्जीवानामुत्पत्तिभेदादिरिति। इत एवोत्पत्तिभेदादिश्रुतिभ्य आकृष्य इह पुनरुत्पत्तिश्रुतीनामैदंपर्यप्रतिपिपादयिषयोपन्यासः—

हुआ ही है और तब जीव भी भिन्न ही हैं—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उत्पत्तिसूचक श्रुतियाँ दूसरे ही अभिप्रायसे हैं। 'देहादिसंघात स्वप्नके समान आत्माकी मायासे ही प्रस्तुत किये हुए हैं' तथा 'घटाकाशकी उत्पत्तिसे होनेवाले भेदके समान जीवोंकी उत्पत्तिके भेद हैं' इन वाक्योंद्वारा पहले भी इस दोषका परिहार किया ही जा चुका है। इसीलिये पूर्वोक्त उत्पत्ति-भेदादिसूचक श्रुतियोंसे उनका निष्कर्ष लेकर यहाँ फिर उन उत्पत्तिश्रुतियोंका ब्रह्मात्मैक्यपरत्व प्रतिपादन करनेकी इच्छासे उपन्यास किया जाता है—

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन॥ १५॥

[उपनिषदोंमें] जो मृत्तिका, लोहखण्ड और विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तोंद्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिका निरूपण किया है वह [ब्रह्मात्मैक्यमें] बुद्धिका प्रवेश करानेका उपाय है; वस्तुतः उनमें कुछ भी भेद नहीं है॥ १५॥

मृल्लोहविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तोपन्यासैः सृष्टिर्या चोदिता प्रकाशितान्यथान्यथा च स सर्वः सृष्टिप्रकारो जीवपरमात्मैकत्वबुद्ध्यवतारायोपायोऽस्माकम्।

मृत्तिका, लोहपिण्ड और विस्फुलिङ्गादिके दृष्टान्तोंका उपन्यास करके जो भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिको प्रकाशित अर्थात् कल्पित किया गया है वह सृष्टिका सम्पूर्ण प्रकार हमें जीव और परमात्माका एकत्व निश्चय करानेवाली बुद्धि प्राप्त करानेके लिये है,

यथा प्राणसंवादे वागाद्यासुरपाप्मवेधाद्याख्यायिका कल्पिता प्राणवैशिष्ट्यबोधावताराय।

जिस प्रकार कि प्राणसंवादमें प्राणकी उत्कृष्टताका बोध करानेके लिये वागादि इन्द्रियोंके असुरोंद्वारा पापसे विद्ध हो जानेकी आख्यायिका[1] कल्पना की गयी है।

तदप्यसिद्धमिति चेत्।

पूर्व०—परन्तु यह बात भी तो सिद्ध नहीं हो सकती।[2]

न; शाखाभेदेष्वन्यथान्यथा च प्राणादिसंवादश्रवणात्। यदि हि संवादः परमार्थ एवाभूदेकरूप एव संवादः सर्वशाखास्वश्रोष्यत विरुद्धानेकप्रकारेण नाश्रोष्यत। श्रूयते तु; तस्मान्न तादर्थ्यं संवादश्रुतीनाम्। तथोत्पत्तिवाक्यानि प्रत्येतव्यानि।

सिद्धान्ती—नहीं; भिन्न-भिन्न शाखाओंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्राणसंवाद सुना जानेके कारण [उसका यही तात्पर्य होना चाहिये]।[3] यदि यह संवाद वस्तुतः हुआ होता तो सम्पूर्ण शाखाओंमें एक ही संवाद सुना जाता, परस्पर विरुद्ध भिन्न-भिन्न प्रकारसे नहीं। परन्तु ऐसा सुना ही जाता है; इसलिये संवादश्रुतियोंका तात्पर्य यथाश्रुत अर्थमें नहीं है। इसी प्रकार उत्पत्तिवाक्य भी समझने चाहिये।

१- छान्दोग्योपनिषद्के प्रथम प्रपाठकके द्वितीय खण्डमें यह आख्यायिका इस प्रकार आयी है—एक बार देवताओंका असुरोंके साथ युद्ध छिड़ गया। यहाँ असुरसे मनकी राजसवृत्ति और देवतासे सात्त्विकवृत्ति समझनी चाहिये। इन दोनों वृत्तियोंका पारस्परिक युद्ध चिरप्रसिद्ध है। देवताओंने असुरोंको उद्गीथविद्याके प्रभावसे परास्त करना चाहा। अतः उन्होंने वाक् आदि प्रत्येक इन्द्रियको एक-एक करके उद्गीथ-गानमें नियुक्त किया; किन्तु प्रत्येक ही इन्द्रिय स्वार्थपरताके पापसे असुरोंके सामने पराभूत हो गयी। अन्तमें मुख्य प्राणको नियुक्त किया गया। वह सभीके लिये समान भावसे सामगान करने लगा, अतः असुरगण उसका कुछ भी न बिगाड़ सके और देवताओंको विजय प्राप्त हुई।

२-अर्थात् उन आख्यायिकाओंका तात्पर्य प्राणकी उत्कृष्टताका बोध करानेमें ही है।

३-इसी आशयकी एक आख्यायिका बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ६ ब्राह्मण १ में और दूसरी बृह० उ० अध्याय १ ब्राह्मण ३ में भी है।

कल्पसर्गभेदात्संवादश्रुतीनामुत्पत्तिश्रुतीनां च प्रतिसर्गमन्यथात्वमिति चेत्?

न; निष्प्रयोजनत्वाद्यथोक्तबुद्ध्यवतारप्रयोजनव्यतिरेकेण। न ह्यन्यप्रयोजनवत्त्वं संवादोत्पत्तिश्रुतीनां शक्यं कल्पयितुम्। तथात्वप्रतिपत्तये ध्यानार्थमिति चेन्न; कलहोत्पत्तिप्रलयानां प्रतिपत्तेरनिष्टत्वात्। तस्मादुत्पत्त्यादिश्रुतय आत्मैकत्वबुद्ध्यवतारायैव नान्यार्थाः कल्पयितुं युक्ताः। अतो नास्त्युत्पत्त्यादिकृतो भेदः कथंचन॥ १५॥

पूर्व०—प्रत्येक कल्पकी सृष्टिके भेदके कारण संवादश्रुति और उत्पत्तिश्रुतियोंमें प्रत्येक सर्गके अनुसार भेद है—यदि ऐसा मानें तो?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि श्रुतिका उपर्युक्त [ब्रह्मात्मैकत्वमें] बुद्धिप्रवेशरूप प्रयोजनके अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन ही नहीं है। प्राणसंवाद और उत्पत्तिश्रुतियोंका इसके सिवा और कोई प्रयोजन नहीं कल्पना किया जा सकता। यदि कहो कि उनकी तद्रूपता प्राप्त करनेके प्रयोजनसे ध्यानके लिये ऐसा कहा गया है, तो ऐसा भी सम्भव नहीं है, क्योंकि कलह तथा उत्पत्ति या प्रलयकी प्राप्ति किसीको इष्ट नहीं हो सकती। अतः उत्पत्ति आदि प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ आत्मैकत्वरूप बुद्धिकी प्राप्तिके ही लिये हैं, उन्हें किसी और प्रयोजनके लिये मानना उचित नहीं है। अतः उत्पत्ति आदिके कारण होनेवाला भेद कुछ भी नहीं है॥ १५॥

त्रिविध अधिकारी और उनके लिये उपासनाविधि

यदि पर एवात्मा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एकः परमार्थः सन् ''एकमेवाद्वितीयम्'' (छा० उ० ६। २। २) इत्यादि-

शंका—यदि ''एकमेवाद्वितीयम्'' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार परमार्थतः एकमात्र नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव परमात्मा ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है,

श्रुतिभ्योऽसदन्यत्किमर्थेयमुपासनोपदिष्टा "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृ० उ० २। ४। ५) "य आत्मापहतपाप्मा" (छा० उ० ८। ७। १, ३) "स क्रतुं कुर्वीत" (छा० उ० ३। १४। १) "आत्मेत्येवोपासीत" (बृ० उ० १। ४। ७) इत्यादिश्रुतिभ्यः, कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि ?

तो "अरे, इस आत्माका साक्षात्कार करना चाहिये" "जो आत्मा पापरहित है" "वह (अधिकारी) क्रतु (उपास्यसम्बन्धी संकल्प) करे" "आत्मा है—इस प्रकार ही उपासना करे" इत्यादि श्रुतियोंद्वारा इस उपासनाका उपदेश क्यों दिया गया है ? तथा अग्निहोत्रादि कर्म भी क्यों बतलाये गये हैं ?

शृणु तत्र कारणम्—

समाधान—इसमें जो कारण है, सो सुनो—

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ॥ १६ ॥

आश्रम (अधिकारी पुरुष) तीन प्रकारके हैं—हीन, मध्यम और उत्कृष्ट दृष्टिवाले। उनपर कृपा करके उन्हींके लिये यह उपासना उपदेश की गयी है ॥ १६ ॥

आश्रमा आश्रमिणोऽधिकृताः, वर्णिनश्च मार्गगाः, आश्रमशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात्त्रिविधाः। कथम्? हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः। हीना निकृष्टा मध्यमोत्कृष्टा च दृष्टिर्दर्शनसामर्थ्यं येषां ते मन्द-

आश्रमाः—कर्माधिकारी आश्रमी एवं सन्मार्गगामी वर्णीलोग—क्योंकि 'आश्रम' शब्द उनका भी उपलक्षण करानेवाला है—तीन प्रकारके हैं। किस प्रकार?— हीन, मध्यम और उत्कृष्ट दृष्टिवाले। अर्थात् जिनकी दृष्टि यानी दर्शनसामर्थ्य हीन—निकृष्ट, मध्यम और उत्कृष्ट है

मध्यमोत्तमबुद्धिसामर्थ्योपेता इत्यर्थः।

उपासनोपदिष्टेयं तदर्थं मन्दमध्यमदृष्ट्याश्रमाद्यर्थं कर्माणि च, न चात्मैक एवाद्वितीय इति निश्चितोत्तमदृष्ट्यर्थं दयालुना वेदेनानुकम्पया सन्मार्गगाः सन्तः कथमिमामुत्तमामेकत्वदृष्टिं प्राप्नुयुरिति। ''यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते'' (के० उ० १। ५) ''तत्त्वमसि'' (छा० उ० ६। ८—१६) ''आत्मैवेदं सर्वम्'' (छा० उ० ७। २५। २) इत्यादिश्रुतिभ्यः॥ १६॥

ऐसे मन्द, मध्यम और उत्तम बुद्धिकी सामर्थ्यसे सम्पन्न है।

उन मन्द और मध्यम दृष्टिवाले आश्रमादिके लिये ही इस उपासना और कर्मका उपदेश किया गया है, 'आत्मा एक और अद्वितीय ही है' ऐसी जिनकी निश्चित उत्तम दृष्टि है, उनके लिये उसका उपदेश नहीं है। दयालु वेदने उसका इसीलिये उपदेश किया है कि जिससे वे किसी प्रकार सन्मार्गगामी होकर ''जिसका मनसे मनन नहीं किया जा सकता, बल्कि जिसके द्वारा मन मनन किया कहा जाता है उसीको तू ब्रह्म जान; यह, जिसकी तू उपासना करता है, ब्रह्म नहीं है'' ''वह तू है'' ''यह सब आत्मा ही है'' इत्यादि श्रुतियोंद्वारा प्रतिपादित इस उत्तम एकत्व-दृष्टिको प्राप्त कर सकें॥ १६॥



अद्वैतात्मदर्शन किसीका विरोधी नहीं है

शास्त्रोपपत्तिभ्यामवधारितत्वादद्वयात्मदर्शनं सम्यग्दर्शनं तद्बाह्यत्वान्मिथ्यादर्शनमन्यत्।

शास्त्र और युक्तिसे निश्चित होनेके कारण अद्वितीय आत्मदर्शन ही सम्यग्दर्शन है, उससे बाह्य होनेके कारण और सब दर्शन मिथ्या हैं।

इतश्च मिथ्यादर्शनं द्वैतिनां रागद्वेषादिदोषास्पदत्वात्। कथम्?

द्वैतवादियोंके दर्शन इसलिये भी मिथ्या हैं, क्योंकि वे राग-द्वेषादि दोषोंके आश्रय हैं; किस प्रकार? [सो बतलाते हैं]—

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते॥ १७॥

द्वैतवादी अपने-अपने सिद्धान्तोंकी व्यवस्थामें दृढ आग्रही होनेके कारण आपसमें विरोध रखते हैं; परन्तु यह [अद्वैतात्मदर्शन] उनसे विरोध नहीं रखता॥ १७॥

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु स्वसिद्धान्तरचनानियमेषु कपिलकणादबुद्धार्हतादिदृष्ट्यनुसारिणो द्वैतिनो निश्चिताः। एवमेवैष परमार्थो नान्यथेति तत्र तत्रानुरक्ताः प्रतिपक्षं चात्मनः पश्यन्तस्तं द्विषन्त इत्येवं रागद्वेषोपेताः स्वसिद्धान्तदर्शननिमित्तम् एव परस्परमन्योन्यं विरुध्यन्ते।

स्वसिद्धान्तव्यवस्थामें अर्थात् अपने-अपने सिद्धान्तकी रचनाके नियमोंमें कपिल, कणाद, बुद्ध और अर्हत् (जिन) की दृष्टियोंका अनुसरण करनेवाले द्वैतवादी निश्चित हैं; अर्थात् यह परमार्थतत्त्व इसी प्रकार है अन्यथा नहीं—इस प्रकार अपने-अपने सिद्धान्तमें अनुरक्त हो अपने प्रतिपक्षीको देखकर उससे द्वेष करते हैं। इस तरह राग-द्वेषसे युक्त हो अपने-अपने सिद्धान्तके दर्शनके कारण ही परस्पर एक-दूसरेसे विरोध मानते हैं।

तैरन्योन्यविरोधिभिरस्मदीयोऽयं वैदिकः सर्वानन्यत्वादात्मैकत्वदर्शनपक्षो न विरुध्यते यथा स्वहस्तपादादिभिः। एवं

उन परस्पर विरोध माननेवालोंसे हमारा यह आत्मैकत्वदर्शनरूप वैदिकसिद्धान्त सबसे अभिन्न होनेके कारण विरोध नहीं मानता; जिस प्रकार कि अपने हाथ-पाँव आदिसे किसीका विरोध नहीं होता। इस प्रकार

रागद्वेषादिदोषानास्पदत्वादात्मैकत्वबुद्धिरेव सम्यग्दर्शनमित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

राग-द्वेषादि दोषोंका आश्रय न होनेके कारण आत्मैकत्वबुद्धि ही सम्यग्दृष्टि है—यह इसका तात्पर्य है ॥ १७ ॥



अद्वैतात्मदर्शनके अविरोधी होनेमें हेतु

केन हेतुना तैर्न विरुध्यत इत्युच्यते—

किस कारण उनसे इसका विरोध नहीं है—इसपर कहते हैं—

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुद्ध्यते ॥ १८ ॥

अद्वैत परमार्थ है और द्वैत उसीका भेद (कार्य) कहा जाता है, तथा उन (द्वैतवादियों) के मतमें [परमार्थ और अपरमार्थ] दोनों प्रकारसे द्वैत ही है; इसलिये उनसे इसका विरोध नहीं है॥ १८ ॥

अद्वैतं परमार्थो हि यस्मादद्वैतं नानात्वं तस्याद्वैतस्य भेदस्तद्भेदस्तस्य कार्यमित्यर्थः। "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६। २। २) **"तत्तेजोऽसृजत"** (छा० उ० ६। २। ३) **इति श्रुतेरुपपत्तेश्च स्वचित्तस्पन्दनाभावे समाधौ मूर्छायां सुषुप्तौ चाभावात्। अतस्तद्भेद उच्यते द्वैतम्।**

अद्वैत परमार्थ है; और क्योंकि द्वैत यानी नानात्व उस अद्वैतका भेद अर्थात् उसका कार्य है, जैसा कि "एकमेवाद्वितीयम्" "तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि श्रुतियोंसे तथा समाधि, मूर्च्छा अथवा सुषुप्तिमें अपने चित्तके स्फुरणका अभाव हो जानेपर द्वैतका भी अभाव हो जानेके कारण युक्तिसे भी सिद्ध होता है; इसलिये द्वैत उसका भेद कहा जाता है।

द्वैतिनां तु तेषां परमार्थतश्चापरमार्थतश्चोभयथापि द्वैतमेव। यदि च तेषां भ्रान्तानां द्वैतदृष्टिरस्माकमद्वैतदृष्टिरभ्रान्तानाम्, तेनायं हेतुनास्मत्पक्षो न विरुध्यते तैः। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ० उ० २। ५। १९) "न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ० उ० ४। ३। २३) इति श्रुतेः।

यथा मत्तगजारूढ उन्मत्तं भूमिष्ठं प्रतिगजारूढोऽहं गजं वाहय मां प्रतीति ब्रुवाणमपि तं प्रति न वाहयत्यविरोधबुद्ध्या तद्वत्। ततः परमार्थतो ब्रह्मविदात्मैव द्वैतिनाम्। तेनायं हेतुनास्मत्पक्षो न विरुध्यते तैः॥ १८॥

किन्तु उन द्वैतवादियोंकी दृष्टिमें तो परमार्थतः और अपरमार्थतः दोनों प्रकार द्वैत ही है। यदि उन भ्रान्त पुरुषोंकी द्वैतदृष्टि है और हम भ्रमहीनोंकी अद्वैतदृष्टि है तो इस कारणसे ही हमारे पक्षका उनसे विरोध नहीं है। "इन्द्र मायासे अनेक रूप धारण करता है" "उससे भिन्न दूसरा है ही नहीं" इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही प्रमाणित होता है।

जिस प्रकार मतवाले हाथीपर चढ़ा हुआ पुरुष किसी उन्मत्त भूमिस्थ मनुष्यके प्रति, उसके ऐसा कहनेपर भी कि 'मैं तेरे प्रतिद्वन्द्वी हाथीपर चढ़ा हुआ हूँ, तू अपना हाथी मेरी ओर बढ़ा दे' विरोधबुद्धि न होनेके कारण उसकी ओर हाथी नहीं ले जाता, उसी प्रकार [हमारा भी उनसे विरोध नहीं है]। तब, परमार्थतः तो ब्रह्मवेत्ता द्वैतवादियोंका भी आत्मा ही है। इसीसे अर्थात् इसी कारण उनसे हमारे पक्षका विरोध नहीं है॥ १८॥



आत्मामें भेद मायाहीके कारण है

द्वैतमद्वैतभेद इत्युक्ते द्वैतमप्यद्वैतवत्परमार्थसदिति स्यात् कस्यचिदाशङ्केत्यत आह—

द्वैत-अद्वैतका भेद है—ऐसा कहनेपर किसी-किसीको शंका हो सकती है कि अद्वैतके समान द्वैत भी परमार्थ सत् ही होना चाहिये—इसलिये कहते हैं—

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथञ्चन।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं व्रजेत्॥ १९॥

इस अजन्मा अद्वैतमें मायाहीके कारण भेद है और किसी प्रकार नहीं; यदि इसमें वास्तविक भेद होता तो यह अमृतस्वरूप मरणशीलताको प्राप्त हो जाता॥ १९॥

यत्परमार्थसदद्वैतं मायया भिद्यते **ह्येतत्**तैमिरिकानेकचन्द्रवद्रज्जुः सर्पधारादिभिर्भेदैरिव **न** परमार्थतो निरवयवत्वादात्मनः। सावयवं ह्यवयवान्यथात्वेन भिद्यते। यथा मृद् घटादिभेदैः। तस्मान्निरवयवमजं **नान्यथा कथञ्चन** केनचिदपि प्रकारेण न भिद्यत इत्यभिप्रायः।

जो परमार्थ सत् अद्वैत है वह तिमिरदोषसे प्रतीत होनेवाले अनेक चन्द्रमा और सर्प-धारादि भेदोंसे विभिन्न दीखनेवाली रज्जुके समान मायासे ही भेदवान् प्रतीत होता है, परमार्थतः नहीं, क्योंकि आत्मा निरवयव है। जो वस्तु सावयव होती है वही अवयवोंके भेदसे भेदको प्राप्त होती है; जिस प्रकार घट आदि भेदोंसे मृत्तिका। अतः निरवयव और अजन्मा आत्मा [मायाके सिवा] और किसी प्रकार भेदको प्राप्त नहीं हो सकता—यह इसका अभिप्राय है।

तत्त्वतो भिद्यमाने ह्यमृतमजमद्वयं स्वभावतः सन्मर्त्यतां व्रजेत्; यथाग्निः शीतताम्।

यदि उसमें तत्त्वतः भेद हो तो अमृत, अज, अद्वय और स्वभावसे सत्स्वरूप होकर भी आत्मा मर्त्यताको प्राप्त हो जायगा, जिस तरह कि अग्नि शीतलताको

तच्चानिष्टं स्वभाववैपरीत्यगमनम्, सर्वप्रमाणविरोधात्। अजमव्ययमात्मतत्त्वं माययैव भिद्यते न परमार्थतः। तस्मान्न परमार्थसदद्वैतम्॥ १९॥

प्राप्त हो जाय। और अपने स्वभावसे विपरीत अवस्थाको प्राप्त हो जाना सम्पूर्ण प्रमाणोंसे विरुद्ध होनेके कारण किसीको इष्ट नहीं हो सकता। अतः अज और अद्वितीय आत्मतत्त्व मायासे ही भेदको प्राप्त होता है, परमार्थतः नहीं। इसलिये द्वैत परमार्थ सत् नहीं है॥ १९॥



जीवोत्पत्ति सर्वथा असंगत है

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति॥ २०॥

द्वैतवादीलोग जन्महीन आत्माके भी जन्मकी इच्छा करते हैं; किन्तु जो पदार्थ निश्चय ही अजन्मा और मरणहीन है वह मरणशीलताको किस प्रकार प्राप्त हो सकता है?॥ २०॥

ये तु पुनः केचिदुपनिषद्व्याख्यातारो ब्रह्मवादिनो वावदूका अजातस्यैवात्मतत्त्वस्य अमृतस्य स्वभावतो जातिम् उत्पत्तिमिच्छन्ति परमार्थत एव तेषां जातं चेत्तदेव मर्त्यतामेष्यत्यवश्यम्। स चाजातो ह्यमृतो भावः स्वभावतः सन्नात्मा कथं मर्त्यतामेष्यति? न कथञ्चन

किन्तु जो कोई उपनिषदोंकी व्याख्या करनेवाले बहुभाषी ब्रह्मवादी लोग अजात और अमृतस्वरूप आत्मतत्त्वकी जाति यानी उत्पत्ति परमार्थतः ही सिद्ध करना चाहते हैं उनके मतमें यदि वह उत्पन्न होता है तो अवश्य ही मरणशीलताको भी प्राप्त हो जायगा। किन्तु वह आत्मतत्त्व स्वभावसे अजात और अमृत होकर भी किस प्रकार मरणशीलताको प्राप्त हो सकता है? अतः तात्पर्य यह है कि वह किसी प्रकार अपने

मर्त्यत्वं स्वभाववैपरीत्यमेष्यतीत्यर्थः॥ २०॥

स्वभावसे विपरीत मरणशीलताको प्राप्त नहीं हो सकता॥ २०॥

यस्मात्—

क्योंकि—

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति॥ २१॥

मरणहीन वस्तु कभी मरणशील नहीं होती और मरणशील कभी अमर नहीं होती। किसी भी प्रकार स्वभावकी विपरीतता नहीं हो सकती॥ २१॥

न भवत्यमृतं मर्त्यं लोके नापि मर्त्यममृतं तथा। ततः प्रकृतेः स्वभावस्यान्यथाभावः स्वतः प्रच्युतिर्न कथञ्चिद्भविष्यति, अग्नेरिवौष्ण्यस्य॥ २१॥

लोकमें मरणहीन वस्तु मरणशील नहीं होती और न मरणशील वस्तु मरणहीन ही होती है। अतः अग्निकी उष्णताके समान प्रकृति अर्थात् स्वभावकी विपरीतता—अपने स्वरूपसे च्युति किसी प्रकार नहीं हो सकती॥ २१॥

उत्पत्तिशील जीव अमर नहीं हो सकता

स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम्।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः॥ २२॥

जिसके मतमें स्वभावसे मरणहीन पदार्थ भी मर्त्यत्वको प्राप्त हो जाता है, उसके सिद्धान्तानुसार कृतक (जन्म) होनेके कारण वह अमृत पदार्थ चिरस्थायी कैसे हो सकता है?॥ २२॥

यस्य पुनर्वादिनः स्वभावेन अमृतो भावो मर्त्यतां गच्छति

किन्तु जिस वादीके मतमें स्वभावसे अमृत पदार्थ भी मर्त्यताको प्राप्त होता है

परमार्थतो जायते तस्य प्रागुत्पत्तेः स भावः स्वभावतोऽमृत इति प्रतिज्ञा मृषैव। कथं तर्हि कृतकेनामृतस्तस्य भावः? कृतकेनामृतः स कथं स्थास्यति निश्चलोऽमृतस्वभावस्तथा न कथञ्चित्स्थास्यत्यात्मजातिवादिनः सर्वदाजं नाम नास्त्येव; सर्वमेतन्मर्त्यम्। अतोऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्यभिप्रायः॥ २२॥

अर्थात् परमार्थतः जन्म लेता है उसकी यह प्रतिज्ञा कि उत्पत्तिसे पूर्व वह पदार्थ स्वभावसे अमरणधर्मा है—मिथ्या ही है। [यदि ऐसा न मानें] तो फिर कृतक होनेके कारण उसका स्वभाव अमरत्व कैसे हो सकता है? और इस प्रकार कृतक होनेसे ही वह अमृत पदार्थ निश्चल यानी अमृतस्वभाव भी कैसे रह सकता है? अर्थात् वह कभी ऐसा नहीं रह सकता। अतः आत्माका जन्म बतलानेवालेके मतमें तो अजन्मा वस्तु कोई है ही नहीं। उसके लिये यह सब मरणशील ही है। इससे यह अभिप्राय हुआ कि [उसके मतमें] मोक्ष होनेका प्रसंग है ही नहीं॥ २२॥



सृष्टिश्रुतिकी संगति

नन्वजातिवादिनः सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिर्न संगच्छते प्रामाण्यम्?

शंका—किन्तु अजातिवादीके मतमें सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती?

बाढं विद्यते सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिः; सा त्वन्यपरा। उपायः सोऽवतारायेत्यवोचाम्। इदानी-

समाधान—हाँ ठीक है, सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति भी है; किन्तु उसका उद्देश्य दूसरा है। "उपायः सोऽवताराय[1]" इस प्रकार हम उसका उद्देश्य पहले (अद्वैत० १५में) बता ही

१. वह ब्रह्मात्मैक्यमें बुद्धिका प्रवेश करानेके लिये उपाय है।

मुक्तेऽपि परिहारे पुनश्चोद्यपरिहारौ विवक्षितार्थं प्रति सृष्टिश्रुत्यक्षराणामानुलोम्यविरोधाशङ्कामात्रपरिहारार्थौ—

चुके हैं। इस प्रकार यद्यपि इस शंकाका पहले समाधान किया जा चुका है तो भी 'सृष्टिश्रुतिके अक्षरोंकी अनुकूलताका हमारे विवक्षित अर्थसे विरोध है' इस शंकाका परिहार करनेके लिये ही, इस समय तत्सम्बन्धी शंका और समाधानका पुनः उल्लेख किया जाता है—



भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समा श्रुतिः।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद्भवति नेतरत्॥ २३॥

पारमार्थिक अथवा अपारमार्थिक किसी भी प्रकारकी सृष्टि होनेमें श्रुति तो समान ही होगी। अतः उनमें जो निश्चित और युक्तियुक्त मत हो वही [श्रुतिका अभिप्राय] हो सकता है, अन्य नहीं॥ २३॥

भूततः परमार्थतः सृज्यमाने वस्तुन्यभूततो मायया वा मायाविनेव सृज्यमाने वस्तुनि समा तुल्या सृष्टिश्रुतिः। ननु गौणमुख्ययोर्मुख्ये शब्दार्थप्रतिपत्तिर्युक्ता। न, अन्यथा सृष्टेरप्रसिद्धत्वान्निष्प्रयोजनत्वाच्चेत्यवोचाम। अविद्यासृष्टिविषयैव सर्वा गौणी मुख्या च सृष्टिर्न परमार्थतः ''सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'' (मु० उ० २। १। २) इति श्रुतेः।

वस्तुके भूततः यानी परमार्थतः रचे जानेमें अथवा अभूततः यानी मायासे मायावीद्वारा रचे जानेमें सृष्टिश्रुति तो समान ही होगी। यदि कहो कि गौण और मुख्य दोनों अर्थ होनेपर शब्दका मुख्य अर्थ लेना ही उचित है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि अन्य प्रकारसे न तो सृष्टि सिद्ध ही होती है और न उसका कुछ प्रयोजन ही है—यह हम पहले कह चुके हैं। ''आत्मा बाहर-भीतर विद्यमान और अजन्मा है'' इस श्रुतिके अनुसार सब प्रकारकी गौण और मुख्य सृष्टि आविद्यक सृष्टिसम्बन्धिनी ही है, परमार्थतः नहीं।

तस्माच्छ्रुत्या निश्चितं यदेकमेवाद्वितीयमजममृतमिति युक्तियुक्तं च युक्त्या च सम्पन्नं तदेवेत्यवोचाम पूर्वैर्ग्रन्थैः। तदेव श्रुत्यर्थो भवति नेतरत्कदाचिदपि॥ २३॥

अतः श्रुतिने जो एक, अद्वितीय, अजन्मा और अमृत तत्त्व निश्चित किया है वही युक्तियुक्त अर्थात् युक्तिसे भी सिद्ध होता है, ऐसा प्रतिपादन कर चुके हैं वही श्रुतिका तात्पर्य हो सकता है; अन्य अर्थ कभी और किसी अवस्थामें नहीं हो सकता॥ २३॥



कथं श्रुतिनिश्चयः? इत्याह—

यह श्रुतिका निश्चय किस प्रकार है? सो बतलाते हैं—

नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः॥ २४॥

'नेह नानास्ति किंचन' 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' तथा 'अजायमानो बहुधा विजायते' इन श्रुतिवाक्योंके अनुसार वह परमात्मा मायासे ही उत्पन्न होता है॥ २४॥

यदि हि भूतत एव सृष्टिः स्यात्ततः सत्यमेव नाना वस्त्विति तदभावप्रदर्शनार्थमाम्नायो न स्यात्। अस्ति च "नेह नानाऽस्ति किंचन" (क० उ० २। १। ११) इत्यादिराम्नायो द्वैतभावप्रतिषेधार्थः। तस्मादात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्था कल्पिता सृष्टिरभूतैव प्राणसंवादवत्। "इन्द्रो मायाभिः"

यदि वास्तवमें ही सृष्टि हुई है तो नाना वस्तु सत्य ही हैं; ऐसी अवस्थामें उनका अभाव प्रदर्शित करनेके लिये कोई शास्त्र-वचन नहीं होना चाहिये था। किन्तु द्वैतभावका निषेध करनेके लिये "यहाँ नाना वस्तु कुछ नहीं है" इत्यादि शास्त्र—वचन है ही। अतः प्राणसंवादके समान आत्मैकत्वकी प्राप्तिके लिये कल्पना की हुई सृष्टि अयथार्थ ही है; क्योंकि "इन्द्र मायासे

(बृ० उ० २। ५। १९) इत्यभूतार्थप्रतिपादकेन मायाशब्देन व्यपदेशात्।

ननु प्रज्ञावचनो मायाशब्दः।

सत्यम्; इन्द्रियप्रज्ञाया अविद्यामयत्वेन मायात्वाभ्युपगमाददोषः। मायाभिरिन्द्रियप्रज्ञाभिः अविद्यारूपाभिरित्यर्थः, ''अजायमानो बहुधा विजायते'' इति श्रुतेः, तस्मान्माययैव जायते तु सः। तु शब्दोऽवधारणार्थः—माययैवेति। न ह्यजायमानत्वं बहुधा जन्म चैकत्र सम्भवति, अग्राविव शैत्यमौष्ण्यं च।

फलवत्त्वाच्चात्मैकत्वदर्शनमेव श्रुतिनिश्चितोऽर्थः ''तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'' (ई० उ० ७) इत्यादिमन्त्रवर्णात्; ''मृत्योः स मृत्युमाप्नोति'' (क० उ० २। १। १०) इति निन्दितत्वाच्च सृष्ट्यादिभेददृष्टेः॥ २४॥

[अनेकरूप हो जाता है]'' इस श्रुतिमें सृष्टिका अयथार्थत्वप्रतिपादक 'माया' शब्दसे निर्देश किया गया है।

शंका—'माया' शब्द तो प्रज्ञावाचक है [इसलिये इससे सृष्टिका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता]।

समाधान—ठीक है, आविद्यक होनेके कारण इन्द्रियप्रज्ञाका मायात्व माना गया है; इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है। अतः मायासे अर्थात् अविद्यारूप इन्द्रियप्रज्ञासे; जैसा कि ''उत्पन्न न होकर भी अनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है'' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। अतः वह मायासे ही उत्पन्न होता है। यहाँ 'तु' शब्द निश्चयार्थक है। अर्थात् मायासे ही [उत्पन्न होता है]। अग्निमें शीतलता और उष्णताके समान जन्म न लेना और अनेक प्रकारसे जन्म लेना एक ही वस्तुमें सम्भव नहीं है।

''उस अवस्थामें एकत्वका साक्षात्कार करनेवाले पुरुषको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है?'' इत्यादि श्रुतिके अनुसार फलयुक्त होनेके कारण तथा ''[जो नानात्व देखता है] वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है'' इस श्रुतिसे सृष्टि आदि भेददृष्टिकी निन्दा की जानेके कारण भी आत्मैकत्वदर्शन ही श्रुतिका निश्चित अर्थ है॥ २४॥

त्यपवादः। यद्यप्यशुद्धिवियोगहेतुः, अतन्निष्ठत्वात्। अत एव सम्भूतेरपवादात्सम्भूतेरापेक्षिकमेव सत्त्वमिति परमार्थसदात्मैकत्वमपेक्ष्य अमृताख्यः सम्भवः प्रतिषिध्यते।

अपवाद निन्दाहीके लिये किया गया है। वह यद्यपि अशुद्धिके क्षयका कारण है, तो भी अतन्निष्ठ (मोक्षका साक्षात् हेतु न) होनेके कारण [उसकी निन्दा ही की गयी है]। इसलिये सम्भूतिका अपवाद किया जानेके कारण उसका सत्त्व आपेक्षिक ही है; इसी आशयसे परमार्थ सत् आत्मैकत्वकी अपेक्षासे अमृतसंज्ञक सम्भूतिका प्रतिषेध किया गया है।

विद्योत्पत्त्यनन्तरं जीवभावस्य अनुपपत्ति-प्रतिपादनम्

एवं मायानिर्मितस्यैव जीवस्याविद्यया प्रत्युपस्थापितस्याविद्यानाशे स्वभावरूपत्वात्परमार्थतः को न्वेनं जनयेत्। न हि रज्ज्वामविद्यारोपितं सर्पं पुनर्विवेकतो नष्टं जनयेत्कश्चित्। तथा न कश्चिदेनं जनयेदिति को न्विंत्याक्षेपार्थत्वात्कारणं प्रतिषिध्यते। अविद्योद्भूतस्य नष्टस्य जनयितृकारणं न किंचिदस्तीत्यभिप्रायः "नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्" (क० उ० १। २। १८) इति श्रुतेः॥ २५॥

इस प्रकार अविद्याद्वारा खड़ा किया गया मायारचित जीव जब अविद्याका नाश होनेपर अपने स्वरूपसे स्थित हो जाता है तब उसे परमार्थतः कौन उत्पन्न कर सकता है? रज्जुमें अविद्यासे आरोपित सर्पको विवेकसे नष्ट हो जानेपर, फिर कोई उत्पन्न नहीं कर सकता। उसी प्रकार इसे भी कोई उत्पन्न नहीं कर सकता। 'को न्वेनम्' इत्यादि श्रुति आक्षेपार्थक है [प्रश्नार्थक नहीं] इसलिये इससे कारणका प्रतिषेध किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि अविद्यासे उत्पन्न हुए इस जीवका विद्याद्वारा नाश हो जानेपर फिर इसे उत्पन्न करनेवाला कोई भी कारण नहीं है, जैसा कि "यह कहींसे (किसी कारणसे) किसी रूपमें उत्पन्न नहीं हुआ" इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित होता है॥ २५॥

अनात्मप्रतिषेधसे अजन्मा आत्मा प्रकाशित होता है

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते॥ २६॥

क्योंकि 'स एष नेति नेति' (वह यह आत्मा यह नहीं है, यह नहीं है) इत्यादि श्रुति आत्माके अग्राह्यत्वके कारण [उसके विषयमें] पहले बतलाये हुए सभी भावोंका निषेध करती है; अतः इस [निषेधरूप] हेतुके द्वारा ही अजन्मा आत्मा प्रकाशित होता है॥ २६॥

सर्वविशेषप्रतिषेधेन "अथात आदेशो नेति नेति" (बृ० उ० २। ३। ६) इति प्रतिपादितस्यात्मनो दुर्बोध्यत्वं मन्यमाना श्रुतिः पुनः पुनरुपायान्तरत्वेन तस्यैव प्रतिपिपादयिषया यद्व्याख्यातं तत्सर्वं निह्नुते, ग्राह्यं जनिमद्बुद्धिविषयमपलपति। अर्थात् "स एष नेति नेति" (बृ० उ० ३। ९। २६) इत्यात्मनोऽदृश्यतां दर्शयन्ती श्रुतिः उपायस्योपेयनिष्ठतामजानत उपायत्वेन व्याख्यातस्योपेयवदग्राह्यता मा

"अथात आदेशो नेति नेति"[1] इस प्रकार समस्त विशेषणोंके प्रतिषेधद्वारा प्रतिपादन किये हुए आत्माका दुर्बोधत्व माननेवाली श्रुति बारंबार दूसरे उपायसे उसीका प्रतिपादन करनेकी इच्छासे, पहले जो कुछ व्याख्या की है उस सभीका अपह्नव (असत्यताप्रतिपादन) करती है। वह ग्राह्य—बुद्धिके जन्य विषयोंका अपलाप करती है। अर्थात् "स एष नेति नेति" इस प्रकार आत्माकी अदृश्यता दिखलानेवाली श्रुति, उपायकी उपेयनिष्ठताको न जाननेवाले लोगोंको उपायरूपसे बतलाये हुए विषय उपेयके समान ग्राह्य न हो जायँ—

१. इस (मूर्त्त और अमूर्तके उपन्यास) के अनन्तर [निर्विशेष आत्माका बोध करानेके लिये] यह नहीं है, यह नहीं है—ऐसा उपदेश है।

भूदित्यग्राह्यभावेन हेतुना कारणेन निह्नुत इत्यर्थः। ततश्चैवमुपायस्योपेयनिष्ठतामेव जानत उपेयस्य च नित्यैकरूपत्वमिति तस्य सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वं प्रकाशते स्वयमेव॥ २६॥

इसलिये, अग्राह्यतारूप हेतुसे उनका निषेध करती है—यही इसका अभिप्राय है। तदनन्तर इस प्रकार उपायकी उपेयनिष्ठताको जाननेवाले और उपेयकी नित्यैकस्वरूपताको भी समझनेवाले पुरुषोंको यह बाहर-भीतर विद्यमान अजन्मा आत्मतत्त्व स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है॥ २६॥



सद्वस्तुकी उत्पत्ति मायिक होती है

एवं हि श्रुतिवाक्यशतैः सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वमद्वयं न ततोऽन्यदस्तीति निश्चितमेतत्। युक्त्या च अधुनैतदेव पुनर्निर्धार्यत इत्याह—

इस प्रकार सैकड़ों श्रुतिवाक्योंसे यही निश्चित होता है कि बाहर-भीतर वर्तमान अजन्मा आत्मतत्त्व अद्वितीय है, उससे भिन्न और कुछ नहीं है। यही बात अब युक्तिसे फिर निश्चय की जाती है; इसीसे कहते हैं—

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते॥ २७॥

सद्वस्तुका जन्म मायासे ही हो सकता है, वस्तुतः नहीं। जिसके मतमें वस्तुतः जन्म होता है उसके सिद्धान्तानुसार भी उत्पत्तिशील वस्तुका ही जन्म हो सकता है॥ २७॥

तत्रैतत्स्यात्सदाग्राह्यमेव चेदसदेवात्मतत्त्वमिति। तत्र, कार्यग्रहणात्। यथा सतो मायाविनो मायया जन्म कार्यम्। एवं

उस आत्मतत्त्वके विषयमें यह शंका होती है कि यदि आत्मतत्त्व सर्वदा अग्राह्य ही है तो वह असत् होना चाहिये। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उसका कार्य देखा जाता है। जिस प्रकार सत्स्वरूप मायावीका मायासे जन्म लेना कार्य है उसी प्रकार

जगतो जन्म कार्यं गृह्यमाणं मायाविनमिव परमार्थसन्तम् आत्मानं जगज्जन्ममायास्पदम् अवगमयति। यस्मात्सतो हि विद्यमानात्कारणान्मायानिर्मितस्य हस्त्यादिकार्यस्येव जगज्जन्म युज्यते नासतः कारणात्। न तु तत्त्वत एवात्मनो जन्म युज्यते।

यह दिखलायी देनेवाला जगत्‌का जन्मरूप कार्य जगज्जन्मरूप मायाके आश्रयभूत परमार्थ सत् मायावीके समान आत्माका बोध कराता है, क्योंकि मायासे रचे हुए हाथी आदि कार्यके समान सत् अर्थात् विद्यमान कारणसे ही जगत्‌का जन्म होना सम्भव है, किसी अविद्यमान कारणसे नहीं। तथा तत्त्वतः तो आत्माका जन्म होना सम्भव है ही नहीं।

अथ वा सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिवत् मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतो यथा तथाग्राह्यस्यापि सत एवात्मनो रज्जुसर्पवज्जगद्रूपेण मायया जन्म युज्यते। न तु तत्त्वत एवाजस्यात्मनो जन्म।

अथवा [यों समझो कि] जिस प्रकार रज्जु आदिसे सर्पादिके समान सत् अर्थात् विद्यमान वस्तुका जन्म मायासे ही हो सकता है, तत्त्वतः नहीं, उसी प्रकार अग्राह्य होनेपर भी सत्स्वरूप आत्माका रज्जुसे सर्पके समान जगद्रूपसे जन्म होना मायासे ही सम्भव है—उस अजन्मा आत्माका तत्त्वतः जन्म नहीं हो सकता।

यस्य पुनः परमार्थसदजमात्मतत्त्वं जगद्रूपेण जायते वादिनो न हि तस्याजं जायत इति शक्यं वक्तुं विरोधात्। ततस्तस्यार्थाज्जातं जायत इत्यापन्नं

किन्तु जिस वादीके मतमें परमार्थ सत् आत्मतत्त्व ही जगद्रूपसे उत्पन्न होता है उसके सिद्धान्तानुसार यह नहीं कहा जा सकता कि अजन्मा वस्तुका ही जन्म होता है, क्योंकि इससे विरोध उपस्थित होता है। अतः यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि उसके मतानुसार किसी जन्मशीलका ही

ततश्चानवस्था जाताज्जायमानत्वेन। तस्मादजमेकमेवात्मतत्त्वमिति सिद्धम्॥ २७॥

जन्म होता है। किन्तु इस प्रकार जन्मशीलसे ही जन्म माननेपर अनवस्था उपस्थित हो जाती है; अतः यह सिद्ध हुआ कि आत्मतत्त्व अजन्मा और एक ही है॥ २७॥



असद्वस्तुकी उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते।
बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते॥ २८॥

असद्वस्तुका जन्म तो मायासे अथवा तत्त्वतः किसी प्रकार भी होना सम्भव नहीं है। बन्ध्याका पुत्र न तो वस्तुतः उत्पन्न होता है और न मायासे ही॥ २८॥

असद्वादिनामसतो भावस्य मायया तत्त्वतो वा न कथंचन जन्म युज्यते, अदृष्टत्वात्। न हि बन्ध्यापुत्रो मायया तत्त्वतो वा जायते तस्मादत्रासद्वादो दूरत एवानुपपन्न इत्यर्थः॥ २८॥

असद्वादियोंके पक्षमें भी, असत् वस्तुका जन्म मायासे अथवा वस्तुतः किसी प्रकार होना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता। बन्ध्याका पुत्र न तो मायासे उत्पन्न होता है और न वस्तुतः ही। अतः तात्पर्य यह हुआ कि असद्वाद तो सर्वथा ही अयुक्त है॥ २८॥



कथं पुनः सतो माययैव जन्मेत्युच्यते—

सत् वस्तुका जन्म मायासे ही कैसे हो सकता है—इसपर कहते हैं—

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः॥ २९॥

जिस प्रकार स्वप्नकालमें मन मायासे ही द्वैताभासरूपसे स्फुरित होता है, उसी प्रकार जाग्रत्कालमें भी वह मायासे ही द्वैताभासरूपसे स्फुरित होता है॥ २९॥

यथा रज्ज्वां विकल्पितः सर्पो रज्जुरूपेणावेक्ष्यमाणः सन्नेवं मनः परमार्थविज्ञप्त्यात्म-रूपेणावेक्ष्यमाणं सद् ग्राह्यग्राहक-रूपेण द्वयाभासं स्पन्दते स्वप्ने मायया, रज्ज्वामिव सर्पः। तथा तद्वदेव जाग्रज्जागरिते स्पन्दते मायया मनः स्पन्दत इवेत्यर्थः॥ २९॥

जिस प्रकार रज्जुमें कल्पना किया हुआ सर्प रज्जुरूपसे देखे जानेपर सत् है उसी प्रकार मन भी परमार्थज्ञानरूप आत्मस्वरूपसे देखा जानेपर सत् है। वह रज्जुमें सर्पके समान स्वप्नावस्थामें मायासे ही ग्राह्य-ग्राहकरूप द्वैतके आभासरूपसे स्फुरित होता है। इसी प्रकार यह मन ही जाग्रत्-अवस्थामें भी मायासे [विविध रूपोंमें] स्फुरित होता है; अर्थात् स्फुरित होता-सा मालूम होता है [वास्तवमें स्फुरित भी नहीं होता]॥ २९॥



स्वप्न और जागृति मनके ही विलास हैं

अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः॥ ३०॥

इसमें सन्देह नहीं, स्वप्नावस्थामें अद्वय मन ही द्वैतरूपसे भासनेवाला है; इसी प्रकार जाग्रत्कालमें भी निःसन्देह अद्वय मन ही द्वैतरूपसे भासता है॥ ३०॥

रज्जुरूपेण सर्प इव परमार्थत आत्मरूपेणाद्वयं सद्द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः। न हि स्वप्ने हस्त्यादि ग्राह्यं तद्ग्राहकं वा चक्षुरादिद्वयं विज्ञानव्यतिरेकेणास्ति।

रज्जुरूपसे सत् सर्पके समान परमार्थतः अद्वय आत्मरूपसे सत् मन ही स्वप्नमें द्वैतरूपसे भासनेवाला है—इसमें सन्देह नहीं। स्वप्नमें हाथी आदि ग्राह्य पदार्थ और उन्हें ग्रहण करनेवाले चक्षु आदि दोनों ही विज्ञानके सिवा और कुछ नहीं हैं;

जाग्रदपि तथैवेत्यर्थः। परमार्थसद्विज्ञानमात्राविशेषात् ॥ ३० ॥

ऐसा ही जाग्रत्‌में भी है—यह इसका तात्पर्य है, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओंमें परमार्थ सत् विज्ञान ही समानरूपसे विद्यमान है॥ ३०॥



रज्जुसर्पवद्विकल्पनारूपं द्वैतरूपेण मन एवेत्युक्तम्। तत्र किं प्रमाणमित्यन्वयव्यतिरेकलक्षणमनुमानमाह। कथम्—

रज्जुमें सर्पके समान विकल्पनारूप यह मन ही द्वैतरूपसे स्थित है—ऐसा पहले कहा गया। इसमें प्रमाण क्या है? इसके लिये अन्वयव्यतिरेकरूप अनुमान प्रमाण कहा जाता है; सो किस प्रकार—

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥ ३१॥

यह जो कुछ चराचर द्वैत है सब मनका दृश्य है, क्योंकि मनका अमनीभाव (संकल्पशून्यत्व) हो जानेपर द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती॥ ३१॥

तेन ही मनसा विकल्प्यमानेन दृश्यं मनोदृश्यमिदं द्वैतं सर्वं मन इति प्रतिज्ञा। तद्भावे भावात्तदभावेऽभावात्। मनसो ह्यमनीभावे निरोधे विवेकदर्शनाभ्यासवैराग्याभ्यां रज्ज्वामिव सर्पे लयं गते वा सुषुप्ते द्वैतं नैवोपलभ्यत इत्यभावात्सिद्धं द्वैतस्यासत्त्वमित्यर्थः॥ ३१॥

उस विकल्पित होनेवाले मनद्वारा दिखायी देने योग्य यह सम्पूर्ण द्वैत मन ही है—यह प्रतिज्ञा है, क्योंकि उसके वर्तमान रहनेपर यह भी वर्तमान रहता है तथा उसका अभाव हो जानेपर इसका भी अभाव हो जाता है। मनका अमनीभाव—निरोध अर्थात् विवेकदृष्टिके अभ्यास और वैराग्यद्वारा रज्जुमें सर्पके समान लय हो जानेपर अथवा सुषुप्ति-अवस्थामें द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती। इस प्रकार अभाव हो जानेके कारण द्वैतकी असत्ता सिद्ध ही है—यह इसका तात्पर्य है॥ ३१॥



तत्त्वबोधसे अमनीभाव

कथं पुनरमनीभावः? इति उच्यते—

किन्तु यह अमनीभाव होता किस प्रकार है? इस विषयमें कहा जाता है—

आत्मसत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम्॥ ३२॥

जिस समय आत्मसत्यकी उपलब्धि होनेपर मन संकल्प नहीं करता उस समय वह अमनीभावको प्राप्त हो जाता है; उस अवस्थामें ग्राह्यका अभाव हो जानेके कारण वह ग्रहण करनेके विकल्पसे रहित हो जाता है॥ ३२॥

आत्मैव सत्यमात्मसत्यं मृत्तिकावत् ''वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'' (छा० उ० ६। १। ४) इति श्रुतेः। तस्य शास्त्राचार्योपदेश-मन्ववबोधः—आत्मसत्यानुबोधः। तेन सङ्कल्प्याभावतया न सङ्कल्पयते, दाह्याभावे ज्वलन-मिवाग्नेः, यदा यस्मिन्काले तदा तस्मिन्कालेऽमनस्याममनोभावं याति; ग्राह्याभावे तन्मनोऽग्रहं ग्रहणविकल्पनावर्जितमित्यर्थः॥ ३२॥

''[घटादि] वाणीसे आरम्भ होनेवाला विकार नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य है'' इस श्रुतिके अनुसार मृत्तिकाके समान आत्मा ही सत्य है। उस आत्मसत्यका शास्त्र और आचार्यके उपदेशके अनन्तर बोध होना आत्मसत्यानुबोध है। उसके कारण सङ्कल्पयोग्य वस्तुका अभाव हो जानेसे, दाह्य वस्तुका अभाव हो जानेपर अग्निके दाहकत्वके अभावके समान, जिस समय चित्त सङ्कल्प नहीं करता उस समय वह अमनस्कता अर्थात् अमनीभावको प्राप्त हो जाता है। ग्राह्य वस्तुका अभाव हो जानेसे वह मन अग्रह अर्थात् ग्रहण-विकल्पनासे रहित हो जाता है॥ ३२॥



आत्मज्ञान किसे होता है?

यद्यसदिदं द्वैतं केन स्वमजमात्मतत्त्वं विबुध्यते? इति उच्यते—

यदि यह सम्पूर्ण द्वैत असत्य है तो प्रकृत सत्य आत्मतत्त्वका ज्ञान किसे होता है? इसपर कहते हैं—

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते।
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुध्यते॥ ३३॥

उस सर्वकल्पनाशून्य अजन्मा ज्ञानको विवेकीलोग ज्ञेय ब्रह्मसे अभिन्न बतलाते हैं? ब्रह्म जिसका विषय है वह ज्ञान अजन्मा और नित्य है। उस अजन्मा ज्ञानसे अजन्मा आत्मतत्त्व स्वयं ही जाना जाता है॥ ३३॥

अकल्पकं सर्वकल्पनावर्जितमत एवाजं ज्ञानं ज्ञप्तिमात्रं ज्ञेयेन परमार्थसता ब्रह्मणाभिन्नं प्रचक्षते कथयन्ति ब्रह्मविदः। न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽग्न्युष्णवत् "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० ३। ९। २८) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २। १) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

अकल्पक—सम्पूर्ण कल्पनाओंसे रहित अतएव अजन्मा अर्थात् ज्ञप्तिमात्र ज्ञानको ब्रह्मवेत्ता लोग ज्ञेय यानी परमार्थसत्स्वरूप ब्रह्मसे अभिन्न बतलाते हैं। अग्निकी उष्णताके समान विज्ञाताके ज्ञानका कभी लोप नहीं होता। "ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है" "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है" इत्यादि श्रुतियोंसे यही बात प्रमाणित होती है।

तस्यैव विशेषणं ब्रह्म ज्ञेयं यस्य स्वस्य तदिदं ब्रह्मज्ञेयमौष्ण्यस्येवाग्निवदभिन्नम्। तेनात्म-

उस (ज्ञान) के ही विशेषण बतलाते हैं—'ब्रह्मज्ञेयम्' अर्थात् ब्रह्म जिसका ज्ञेय है वह ज्ञान अग्निसे उष्णताके

स्वरूपेणाजेन ज्ञानेनाजं ज्ञेयमात्मतत्त्वं स्वयमेव विबुध्यतेऽवगच्छति। नित्यप्रकाशस्वरूप इव सविता नित्यविज्ञानैकरसघनत्वान्न ज्ञानान्तरमपेक्षत इत्यर्थः॥ ३३॥

समान ब्रह्मसे अभिन्न है। उस आत्मस्वरूप अजन्मा ज्ञानसे अजन्मा ज्ञेयरूप आत्मतत्त्व स्वयं ही जाना जाता है। तात्पर्य यह है कि नित्यप्रकाशस्वरूप सूर्यके समान नित्यविज्ञानैकरसघनरूप होनेके कारण वह किसी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता॥ ३३॥



शान्तवृत्तिका स्वरूप

आत्मसत्यानुबोधेन सङ्कल्पमकुर्वद्बाह्यविषयाभावे निरिन्धनाग्निवत्प्रशान्तं निगृहीतं निरुद्धं मनो भवतीत्युक्तम्। एवं च मनसो ह्यमनीभावे द्वैताभावश्चोक्तः। तस्यैवम्—

आत्मसत्यकी उपलब्धि होनेसे संकल्प न करता हुआ चित्त, बाह्यविषयका अभाव हो जानेसे, इन्धनरहित अग्निके समान शान्त होकर निगृहीत अर्थात् निरुद्ध हो जाता है—ऐसा कहा गया। इस प्रकार मनका अमनीभाव हो जानेपर द्वैतका भी अभाव बतलाया गया। उस इस प्रकार—

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः॥ ३४॥

निगृहीत, निर्विकल्प और विवेकसम्पन्न चित्तका जो व्यापार है वह विशेषरूपसे ज्ञातव्य है। सुषुप्ति-अवस्थामें जो चित्तकी वृत्ति है वह अन्य प्रकारकी है, वह उस (निरुद्धावस्था) के समान नहीं है॥ ३४॥

निगृहीतस्य निरुद्धस्य मनसो निर्विकल्पस्य सर्वकल्पनावर्जितस्य धीमतो विवेकवतः प्रचारो यः स

निगृहीत—रोके हुए, निर्विकल्प—सब प्रकारकी कल्पनाओंसे रहित और धीमान्—विवेकसम्पन्न चित्तका जो प्रचार—

तु प्रचारो विशेषेण ज्ञेयो योगिभिः।

ननु सर्वप्रत्ययाभावे यादृशः सुषुप्तस्थस्य मनसः प्रचारस्तादृश एव निरुद्धस्यापि प्रत्ययाभावाविशेषात् किं तत्र विज्ञेयमिति।

अत्रोच्यते—नैवम्; यस्मात् सुषुप्तेऽन्यः प्रचारोऽविद्यामोह-तमोग्रस्तस्यान्तर्लीनानेकानर्थप्रवृत्ति-बीजवासनावतो मनस आत्मसत्यानुबोधहुताश-विप्लुष्टाविद्यानर्थप्रवृत्तिबीजस्य निरुद्धस्यान्य एव प्रशान्तसर्वक्लेशरजसः स्वतन्त्रः प्रचारः। अतो न तत्समः। तस्माद्युक्तः स विज्ञातुमित्यभिप्रायः॥ ३४॥

व्यापार है, योगियोंको उसका वह व्यापार विशेषरूपसे जानना चाहिये।

शंका—सब प्रकारकी प्रतीतियोंका अभाव हो जानेपर जैसा व्यापार सुषुप्तिस्थ चित्तका होता है वैसा ही निरुद्धका भी होगा, क्योंकि प्रतीतिका अभाव दोनों ही अवस्थाओंमें समान है। उसमें विशेषरूपसे जाननेयोग्य कौन-सी बात है?

समाधान—इस विषयमें हमारा कहना है कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिमें अविद्या-मोहरूप अन्धकारसे ग्रस्त हुए तथा जिसके भीतर अनेकों अनर्थ-प्रवृत्तिकी बीजभूत वासनाएँ लीन हैं उस मनका व्यापार दूसरे प्रकारका है और आत्मसत्यके बोधरूप अग्निसे जिसकी अविद्यारूपी अनर्थ-प्रवृत्तिका बीज दग्ध हो गया है तथा जिसके सब प्रकारके क्लेशरूप दोष शान्त हो गये हैं उस निरुद्ध चित्तका स्वतन्त्र प्रचार दूसरे ही प्रकारका है। अतः वह उसके समान नहीं है। इसलिये तात्पर्य यह है कि उसका ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये॥ ३४॥



सुषुप्ति और समाधिका भेद

प्रचारभेदे हेतुमाह—

उन दोनोंके प्रचारभेदमें हेतु बतलाते हैं—

लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः॥ ३५॥

सुषुप्ति-अवस्थामें मन [अविद्यामें] लीन हो जाता है, किन्तु निरुद्ध होनेपर वह उसमें लीन नहीं होता। उस समय तो सब ओरसे चित्प्रकाशमय निर्भय ब्रह्म ही रहता है॥ ३५॥

लीयते सुषुप्तौ हि यस्मात्सर्वाभिरविद्यादिप्रत्ययबीजवासनाभिः सह तमोरूपमविशेषरूपं बीजभावमापद्यते तद्विवेकविज्ञानपूर्वकं निरुद्धं निगृहीतं सत्र लीयते तमोबीजभावं नापद्यते। तस्माद्युक्तः प्रचारभेदः सुषुप्तस्य समाहितस्य मनसः।

क्योंकि सुषुप्तिमें मन अविद्यादि सम्पूर्ण प्रतीतियोंकी बीजभूता वासनाओंके सहित तमःस्वभाव अविशेषरूप बीजभावको प्राप्त हो जाता है और उसके विवेक ज्ञानपूर्वक निरुद्ध किया जानेपर लीन नहीं होता, अर्थात् अज्ञानरूप बीजभावको प्राप्त नहीं होता। अतः सुषुप्त और समाहित चित्तका प्रचारभेद ठीक ही है।

यदा ग्राह्यग्राहकाविद्याकृतमलद्वयवर्जितं तदा परमद्वयं ब्रह्मैव तत्संवृत्तमित्यतस्तदेव निर्भयं द्वैतग्रहणस्य भयनिमित्तस्याभावात्। शान्तमभयं ब्रह्म, यद्विद्वान्न बिभेति कुतश्चन।

जिस समय चित्त ग्राह्य-ग्राहकरूप अविद्यासे होनेवाले दोनों प्रकारके मलोंसे रहित हो जाता है उस समय वह परम अद्वितीय ब्रह्मरूप ही हो जाता है। अतः द्वैतग्रहणरूप भयके कारणका अभाव हो जानेसे [उस अवस्थामें] वही निर्भय होता है। ब्रह्म शान्त और अभयपद है, जिसे जान लेनेपर पुरुष किसीसे नहीं डरता।

तदेव विशेष्यते ज्ञप्तिर्ज्ञानमात्मस्वभावचैतन्यं तदेव ज्ञानमालोकः प्रकाशो यस्य तद्ब्रह्म

उसीका विशेषण बतला रहे हैं—ज्ञानका अर्थ ज्ञप्ति अर्थात् आत्मस्वरूप चैतन्य है; वह ज्ञान ही जिसका आलोक यानी प्रकाश है वह ब्रह्म

ज्ञानालोकं विज्ञानैकरसघन- मित्यर्थः। समन्ततः समन्तात्सर्वतो व्योमवन्नैरन्तर्येण व्यापक- मित्यर्थः ॥ ३५ ॥

ज्ञानालोक अर्थात् विज्ञानैक- रसस्वरूप है। समन्ततः—सब ओर अर्थात् आकाशके समान निरन्तरतासे सब ओर व्यापक है ॥ ३५ ॥



ब्रह्मका स्वरूप

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ॥ ३६ ॥

वह ब्रह्म जन्मरहित, [अज्ञानरूप] निद्रारहित, स्वप्नशून्य, नामरूपसे रहित, नित्य प्रकाशस्वरूप और सर्वज्ञ है; उसमें किसी प्रकारका कर्त्तव्य नहीं है ॥ ३६ ॥

जन्मनिमित्ताभावात्स- बाह्याभ्यन्तरमजम्। अविद्यानिमित्तं हि जन्म रज्जुसर्पवदित्यवोचाम। सा चाविद्यात्मसत्यानुबोधेन निरुद्धा यतोऽजमत एवानिद्रम्। अविद्यालक्षणानादिर्मायानिद्रा। स्वापात्प्रबुद्धोऽद्वयस्वरूपेणात्मनातः अस्वप्नम्। अप्रबोधकृते ह्यस्य नामरूपे। प्रबोधाच्च ते रज्जुसर्प- वद्विनष्टे इति न नाम्नाभिधीयते ब्रह्म रूप्यते वा न केनचित्प्रकारे- णेत्यनामकमरूपकं च तत्।

जन्मके कारणका अभाव होनेसे ब्रह्म बाह्याभ्यन्तरवर्ती और अजन्मा है। रज्जुमें सर्पके समान जीवका जन्म अविद्याके कारण है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं; क्योंकि आत्मसत्यका अनुभव होनेसे उस अविद्याका निरोध हो गया है; इसलिये ब्रह्म अजन्मा है और इसीसे अनिद्र भी है। यहाँ अविद्यारूपा अनादिमाया ही निद्रा है। अपने अद्वयस्वरूपसे वह स्वप्नसे जगा हुआ है; इसलिये अस्वप्न है। उसके नामरूप भी अज्ञानके ही कारण हैं। ज्ञान होनेपर वे रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्पके समान नष्ट हो जाते हैं। अतः ब्रह्म किसी नामद्वारा कथन नहीं किया जाता और न किसी प्रकार उसका रूप ही बतलाया जाता है, इसीलिये वह अनाम और अरूप है;

''यतो वाचो निवर्तन्ते'' (तै० उ० २। ४। १) इत्यादिश्रुतेः।

किं च सकृद्विभातं सदैव विभातं सदा भारूपमग्रहणान्यथाग्रहणाविर्भावतिरोभाववर्जितत्वात्। ग्रहणाग्रहणे हि रात्र्यहनी तमश्चाविद्यालक्षणं सदाप्रभातत्वे कारणम्। तदभावान्नित्यचैतन्यभारूपत्वाच्च युक्तं सकृद्विभातमिति। अत एव सर्वं च तज्ज्ञस्वरूपं चेति सर्वज्ञम्। नेह ब्रह्मण्येवंविध उपचरणमुपचारः कर्तव्यः। यथान्येषामात्मस्वरूपव्यतिरेकेण समाधानाद्युपचारः। नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वाद्ब्रह्मणः कथंचन न कथंचिदपि कर्तव्यसंभवोऽविद्यानाश इत्यर्थः॥ ३६॥

जैसा कि ''जहाँसे वाणी लौट आती है'' इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है।

यही नहीं; वह अग्रहण, अन्यथाग्रहण तथा आविर्भाव-तिरोभावसे रहित होनेके कारण सकृद्विभात—सदा ही भासनेवाला अर्थात् नित्यप्रकाशस्वरूप है। ग्रहण और अग्रहण ही रात्रि और दिन हैं तथा अविद्यारूप अन्धकार ही सर्वदा ब्रह्मके प्रकाशित न होनेमें कारण है। उसका अभाव होनेसे और नित्यचैतन्यस्वरूप होनेसे ब्रह्मका नित्यप्रकाशस्वरूप होना ठीक ही है। अतः सर्व और ज्ञप्तिरूप होनेसे वह सर्वज्ञ है। इस प्रकारके ब्रह्ममें कोई उपचार यानी कर्त्तव्य नहीं है, जिस प्रकार कि दूसरोंको आत्मस्वरूपसे भिन्न समाधि आदि कर्त्तव्य हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है; इसलिये अविद्याका नाश हो जानेपर विद्वान्‌को कुछ भी कर्त्तव्य रहना सम्भव नहीं है॥ ३६॥



अनामकत्वाद्युक्तार्थसिद्धये हेतुमाह—

अनामकत्व आदि उपर्युक्त अर्थकी सिद्धिके लिये कारण बतलाते हैं—

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥ ३७ ॥

वह सब प्रकारके वाग्व्यापारसे रहित, सब प्रकारके चिन्तन (अन्तः-करणके व्यापार) से ऊपर, अत्यन्त शान्त, नित्यप्रकाश, समाधिस्वरूप, अचल और निर्भय है॥ ३७॥

अभिलप्यतेऽनेनेत्यभिलापो वाक्करणं सर्वप्रकारस्याभिधानस्य, तस्माद्विगतः। वागत्रोपलक्षणार्था, सर्वबाह्यकरणवर्जित इत्येतत्।

जिसके द्वारा शब्दोच्चारण किया जाता है वह 'अभिलाप' अर्थात् 'वाक्' है, जो सब प्रकारके शब्दोच्चारणका साधन है, उससे रहित। यहाँ वागिन्द्रिय उपलक्षणके लिये है, अतः तात्पर्य यह है कि वह सब प्रकारकी बाह्य इन्द्रियोंसे रहित है।

तथा सर्वचिन्तासमुत्थितः। चिन्त्यतेऽनयेति चिन्ता बुद्धिस्तस्याः समुत्थितोऽन्तःकरणवर्जित इत्यर्थः "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः" (मु० उ० २। १। २) इत्यादिश्रुतेः।

तथा सब प्रकारकी चिन्तासे उठा हुआ है। जिससे चिन्तन किया जाता है वह बुद्धि ही चिन्ता है, उससे उठा हुआ है अर्थात् अन्तःकरणसे रहित है; जैसा कि "प्राणरहित, मनोरहित और शुद्ध है तथा पर अक्षरसे भी पर है" इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है।

यस्मात्सर्वविषयवर्जितोऽतः सुप्रशान्तः, सकृज्ज्योतिः सदैव ज्योतिरात्मचैतन्यस्वरूपेण, समाधिः समाधिनिमित्तप्रज्ञावगम्यत्वात्, समाधीयतेऽस्मिन्निति वा समाधिः,

क्योंकि वह सम्पूर्ण विषयोंसे रहित है इसलिये अत्यन्त शान्त है, सकृज्ज्योति अर्थात् आत्मचैतन्यरूपसे सदा ही प्रकाशस्वरूप है, समाधिके कारणसे होनेवाली प्रज्ञासे उपलब्ध होनेके कारण समाधि है, अथवा इसमें चित्त समाहित किया जाता है इसलिये इसे समाधि कहते हैं,

अचलोऽविक्रियः, अत एवाभयो विक्रियाभावात् ॥ ३७ ॥

अचल अर्थात् अविकारी है और इसीसे विकारका अभाव होनेके कारण ही अभय है ॥ ३७ ॥



यस्माद्ब्रह्मैव समाधिरचलोऽभय इत्युक्तमतः—

क्योंकि ब्रह्म ही 'समाधिस्वरूप, अचल और अभय है' ऐसा कहा गया है, इसलिये—

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम्॥ ३८॥

जिस (ब्रह्मपद) में किसी प्रकारका चिन्तन नहीं है उसमें किसी तरहका ग्रहण और त्याग भी नहीं है। उस अवस्थामें आत्मनिष्ठ ज्ञान जन्मरहित और समताको प्राप्त हुआ रहता है॥ ३८॥

न तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि ग्रहो ग्रहणमुपादानम्, नोत्सर्ग उत्सर्जनं हानं वा विद्यते। यत्र हि विक्रिया तद्विषयत्वं वा तत्र हानोपादाने स्यातां न तद्द्वयमिह ब्रह्मणि संभवति। विकारहेतोरन्यस्याभावान्निरवयवत्वाच्च। अतो न तत्र हानोपादाने इत्यर्थः। चिन्ता यत्र न विद्यते। सर्वप्रकारैव चिन्ता न संभवति यत्रामनस्त्वात्कुतस्तत्र हानोपादाने इत्यर्थः।

वहाँ—उस ब्रह्ममें न तो ग्रह—ग्रहण यानी उपादान है और न उत्सर्ग—उत्सर्जन अर्थात् त्याग ही है। जहाँ विकार अथवा विकारकी विषयता (विकृत होनेकी योग्यता) होती है वहीं ग्रहण और त्याग भी रहते हैं; किन्तु यहाँ ब्रह्ममें उन दोनोंहीकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि उसमें विकारका हेतुभूत कोई अन्य पदार्थ है नहीं और वह स्वयं निरवयव है। इसलिये तात्पर्य यह है कि उसमें ग्रहण और त्याग भी सम्भव नहीं हैं। जहाँ चिन्ता नहीं है अर्थात् मनोरहित होनेके कारण जिसमें किसी प्रकारकी चिन्ता सम्भव नहीं है वहाँ त्याग और ग्रहण कैसे रह सकते हैं?

यदैवात्मसत्यानुबोधो जातस्तदैवात्मसंस्थं विषयाभावादग्न्युष्णवदात्मन्येव स्थितं ज्ञानम्, अजाति जातिवर्जितम्, समतां गतं परं साम्यमापन्नं भवति।

जिस समय भी आत्मसत्यका बोध होता है उसी समय आत्मसंस्थ अर्थात् विषयका अभाव होनेके कारण अग्निकी उष्णताके समान आत्मामें ही स्थित ज्ञान अजाति—जन्मरहित और समताको प्राप्त हो जाता है।

यदादौ प्रतिज्ञातमतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतमितीदं तदुपपत्तितः शास्त्रतश्चोक्तमुपसंह्रियते, अजाति समतां गतमिति। एतस्मादात्मसत्यानुबोधात्कार्पण्यविषयमन्यत् ''यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः'' (बृ० उ० ३। ८। १०) इति श्रुतेः। प्राप्यैतत्सर्वः कृतकृत्यो ब्राह्मणो भवतीत्यभिप्रायः॥ ३८॥

पहले (इस प्रकरणके दूसरे श्लोकमें) जो प्रतिज्ञा की थी कि 'इसलिये मैं समान भावको प्राप्त, अजन्मा अकृपणताका वर्णन करूँगा' उस पूर्वकथनका ही यहाँ 'अजाति समतां गतम्' ऐसा कहकर युक्ति और शास्त्रद्वारा उपसंहार किया गया है। ''हे गार्गि! जो पुरुष इस अक्षर ब्रह्मको बिना जाने ही इस लोकसे चला जाता है वह कृपण है'' इस श्रुतिके अनुसार कृपणताका विषय तो इस आत्मसत्यके बोधसे भिन्न ही है। तात्पर्य यह है कि इस तत्त्वको प्राप्त कर लेनेपर तो हर कोई कृतकृत्य ब्राह्मण (ब्रह्मनिष्ठ) हो जाता है॥ ३८॥



अस्पर्शयोगकी दुर्गमता

यद्यपीदमित्थं परमार्थतत्त्वम्—

यद्यपि यह परमार्थ तत्त्व ऐसा है [तथापि]—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥ ३९॥

[सब प्रकारके स्पर्शसे रहित] यह अस्पर्शयोग निश्चय ही योगियोंके लिये कठिनतासे दिखायी देनेवाला है। इस अभय पदमें भय देखनेवाले योगी लोग इससे भय मानते हैं॥ ३९॥

अस्पर्शयोगो नामायं सर्वसम्बन्धाख्यस्पर्शवर्जितत्वादस्पर्शयोगो नाम वै स्मर्यते प्रसिद्धमुपनिषत्सु। दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शः सर्वैर्योगिभिः वेदान्तविहितविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिः। आत्मसत्यानुबोधायासलभ्य एवेत्यर्थः।

यह अस्पर्शयोग नामवाला है अर्थात् सर्व-सम्बन्धरूप स्पर्शसे रहित होनेके कारण यह उपनिषदोंमें अस्पर्शयोग नामसे प्रसिद्ध होकर स्मरण किया गया है। यह वेदान्त-विज्ञानसे रहित सभी योगियोंको कठिनतासे दिखायी देता है, इसलिये उनके लिये दुर्दर्श है। तात्पर्य यह है कि यह एकमात्र आत्मसत्यके अनुभव और [श्रवण-मनन एवं प्राणायामादि] आयासोंके द्वारा ही प्राप्त होने योग्य है।

योगिनो बिभ्यति ह्यस्मात्सर्वभयवर्जितादप्यात्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति अभयेऽस्मिन्भयदर्शिनो भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीला अविवेकिन इत्यर्थः॥ ३९॥

क्योंकि सम्पूर्ण भयसे रहित होनेपर भी इस योगको आत्मनाशरूप माननेके कारण इस अभययोगमें भय देखनेवाले— भयका निमित्तभूत आत्मनाश देखनेवाले अर्थात् अविवेकी योगी लोग इससे भय मानते हैं॥ ३९॥



अन्य योगियोंकी शान्ति मनोनिग्रहके अधीन है

येषां पुनर्ब्रह्मस्वरूपव्यतिरेकेण रज्जुसर्पवत्कल्पितमेव मन इन्द्रियादि च न परमार्थतो

जिनकी दृष्टिमें ब्रह्मस्वरूपसे अतिरिक्त मन और इन्द्रिय आदि रज्जुमें सर्पके समान कल्पित ही हैं—परमार्थतः हैं ही नहीं,

विद्यते तेषां ब्रह्मस्वरूपाणामभयं मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः स्वभावत एव सिद्धा नान्यायत्ता नोपचारः कथंचनेत्यवोचाम। ये त्वतोऽन्ये योगिनो मार्गगा हीनमध्यमदृष्टयो मनोऽन्यदात्मव्यतिरिक्तमात्मसम्बन्धि पश्यन्ति तेषामात्मसत्यानुबोधरहितानाम्—

उन ब्रह्मभूतोंकी निर्भयता और मोक्षसंज्ञक अक्षय शान्ति तो स्वभावसे ही सिद्ध है, किसी अन्यके अधीन नहीं है; जैसा कि 'उसके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है' ऐसा हम पहले (छत्तीसवें श्लोकमें) कह चुके हैं। किन्तु जो इनसे अन्य परमार्थपथमें चलनेवाले हीन और मध्यम दृष्टिवाले योगी मनको आत्मासे भिन्न आत्माका सम्बन्धी मानते हैं, उन आत्मसत्यके बोधसे रहित—

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च॥ ४०॥

समस्त योगियोंके अभय, दुःखक्षय, प्रबोध और अक्षय शान्ति मनके निग्रहके ही अधीन हैं॥ ४०॥

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वेषां योगिनाम्। किं च दुःखक्षयोऽपि, न ह्यात्मसम्बन्धिनि मनसि प्रचलिते दुःखक्षयोऽस्ति अविवेकिनाम्। किं चात्मप्रबोधोऽपि मनोनिग्रहायत्त एव। तथाक्षयापि मोक्षाख्या शान्तिस्तेषां मनोनिग्रहायत्तैव॥ ४०॥

समस्त योगियोंका अभय मनके निग्रहके अधीन है। यही नहीं, दुःखक्षय भी [मनोनिग्रहके ही अधीन है], क्योंकि आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाले मनके चलायमान रहते हुए अविवेकी पुरुषोंका दुःखक्षय नहीं हो सकता। इसके सिवा उनका आत्मज्ञान भी मनके निग्रहके ही अधीन है तथा मोक्षनाम्नी उनकी अक्षय शान्ति भी मनोनिग्रहके ही अधीन है॥ ४०॥



मनोनिग्रह धैर्यपूर्वक ही हो सकता है

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः॥ ४१॥

जिस प्रकार [उद्विग्नता छोड़कर] कुशाके अग्रभागसे एक-एक बूँदद्वारा समुद्रको उलीचा जा सकता है उसी प्रकार सब प्रकारकी खिन्नताका त्याग कर देनेपर मनका निग्रह हो सकता है॥ ४१॥

मनोनिग्रहोऽपि तेषामुदधेः कुशाग्रेणैकबिन्दुना उत्सेचनेन शोषणव्यवसायवद्व्यवसायवतामनवसन्नान्तःकरणानामनिर्वेदादपरिखेदतो भवतीत्यर्थः॥ ४१॥

कुशके अग्रभागसे एक-एक बूँदके द्वारा समुद्रके उत्सेचन अर्थात् सुखानेके प्रयत्नके समान अखिन्नचित्त और उद्यमशील रहनेवाले उन योगियोंके मनका निग्रह भी खेदशून्य रहनेसे ही होता है—यह इसका तात्पर्य है॥ ४१॥



मनोनिग्रहके विघ्न

किमपरिखिन्नव्यवसायमात्रमेव मनोनिग्रह उपायः? न, इत्युच्यते।

तो क्या खेदरहित उद्योग ही मनोनिग्रहका उपाय है? इसपर कहते हैं—'नहीं'

उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा॥ ४२॥

काम्यविषय और भोगोंमें विक्षिप्त हुए चित्तका उपायपूर्वक निग्रह करे तथा लयावस्थामें अत्यन्त प्रसन्नताको प्राप्त हुए चित्तका भी संयम करे, क्योंकि जैसा [अनर्थकारक] काम है वैसा ही लय भी है॥ ४२॥

अपरिखिन्नव्यवसायवान्सन् वक्ष्यमाणेनोपायेन कामभोगविषयेषु विक्षिप्तं मनो निगृह्णीयान्निरुन्ध्यादात्मन्येवेत्यर्थः। किं च लीयतेऽस्मिन्निति सुषुप्तो लयस्तस्मिँल्लये च सुप्रसन्नम् आयासवर्जितम् अपि इत्येतत्, निगृह्णीयादित्यनुवर्तते।

अथक उद्योगशील होकर आगे कहे जानेवाले उपायसे काम और भोगरूप विषयोंमें विक्षिप्त हुए चित्तका निग्रह करे, अर्थात् उसका आत्मामें ही निरोध करे। तथा, जिस अवस्थामें चित्त लीन हो जाता है उस सुषुप्तिका नाम लय है, उस लयावस्थामें अत्यन्त प्रसन्न अर्थात् आयासरहित स्थितिको प्राप्त हुए चित्तका भी निग्रह करे। यहाँ 'निगृह्णीयात्' इस पदकी अनुवृत्ति की जाती है।

सुप्रसन्नं चेत्कस्मान्निगृह्यत इत्युच्यते। यस्माद्यथा कामोऽनर्थहेतुस्तथा लयोऽपि। अतः कामविषयस्य मनसो निग्रहवल्लयादपि निरोद्धव्यमित्यर्थः॥ ४२॥

यदि उस अवस्थामें चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है तो उसका निग्रह क्यों करना चाहिये? इसपर कहा जाता है—क्योंकि जिस प्रकार काम अनर्थका कारण है उसी प्रकार लय भी है; इसलिये तात्पर्य यह है कि कामविषयक मनके निग्रहके समान उसका लयसे भी निरोध करना चाहिये॥ ४२॥



कः स उपायः? इत्युच्यते—

वह उपाय क्या है? इस विषयमें कहा जाता है—

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति॥ ४३॥

सम्पूर्ण द्वैत दुःखरूप है—ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए चित्तको कामजनित भोगोंसे हटावे। इस प्रकार निरन्तर सब वस्तुओंको अजन्मा ब्रह्मरूप स्मरण करता हुआ फिर कोई जात पदार्थ नहीं देखता॥ ४३॥

सर्वं द्वैतमविद्याविजृम्भितं दुःखमेवेत्यनुस्मृत्य कामभोगात्कामनिमित्तो भोग इच्छाविषयस्तस्माद्विप्रसृतं मनो निवर्तयेद्वैराग्यभावनयेत्यर्थः। अजं ब्रह्म सर्वमित्येतच्छास्त्राचार्योपदेशतोऽनुस्मृत्य तद्विपरीतं द्वैतजातं नैव तु पश्यति, अभावात्॥ ४३॥

अविद्यासे प्रतीत होनेवाला सारा द्वैत दुःखरूप ही है—ऐसा निरन्तर स्मरण करता हुआ कामभोगसे—कामनानिमित्तक भोगसे अर्थात् इच्छाजनित विषयसे उसमें फैले हुए चित्तको वैराग्यभावनाद्वारा निवृत्त करे—यह इसका तात्पर्य है। फिर 'यह सब अजन्मा ब्रह्म ही है' ऐसा शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार निरन्तर स्मरण करता हुआ उससे विपरीत द्वैतजातको—उसका अभाव हो जानेके कारण—वह नहीं देखता॥ ४३॥



लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत्॥ ४४॥

चित्त [सुषुप्तिमें] लीन होने लगे तो उसे आत्मविवेकमें नियुक्त करे, यदि विक्षिप्त हो जाय तो उसे पुनः शान्त करे और [यदि इन दोनोंके बीचकी अवस्थामें रहे तो उसे] सकषाय—रागयुक्त समझे। तथा साम्यावस्थाको प्राप्त हुए चित्तको चञ्चल न करे॥ ४४॥

एवमनेन ज्ञानाभ्यासवैराग्यद्वयोपायेन लये सुषुप्ते लीनं सम्बोधयेन्मन आत्मविवेकदर्शनेन योजयेत्। चित्तं मन इत्यनर्थान्तरम्। विक्षिप्तं च कामभोगेषु शमयेत्पुनः। एवं

इस प्रकार ज्ञानाभ्यास और वैराग्य—इन दो उपायोंसे, लय अर्थात् सुषुप्तिमें लीन हुए चित्तको, सम्बोधित अर्थात् आत्मविवेकदर्शनमें नियुक्त करे। चित्त और मन—ये कोई भिन्न पदार्थ नहीं हैं। तथा कामना और भोगोंमें विक्षिप्त हुए चित्तको पुनः शान्त करे। इस प्रकार

पुनः पुनरभ्यस्यतो लयात्सम्बोधितं विषयेभ्यश्च व्यावर्तितं नापि साम्यापन्नमन्तरालावस्थं सकषायं सरागं बीजसंयुक्तं मन इति विजानीयात्। ततोऽपि यत्नतः साम्यमापादयेत्। यदा तु समप्राप्तं भवति समप्राप्त्यभिमुखी भवतीत्यर्थः, ततस्तत्र विचालये-द्विषयाभिमुखं न कुर्यादित्यर्थः ॥ ४४ ॥

बारम्बार अभ्यासद्वारा लयावस्थासे सम्बोधित और विषयोंसे निवृत्त किया हुआ चित्त जब अन्तरालावस्थामें स्थित होकर समताको भी प्राप्त न हो तो यह समझे कि इस समय मन सकषाय—रागयुक्त अर्थात् बीजावस्थासंयुक्त है। उस अवस्थासे भी उसे यत्नपूर्वक साम्यावस्थामें स्थित करे। किन्तु जिस समय वह समताको प्राप्त हो अर्थात् साम्यावस्थाप्राप्तिके अभिमुख हो, उस समय उस अवस्थामें उसे विचलित न करे; अर्थात् विषयाभिमुख न करे॥ ४४॥



नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥ ४५ ॥

उस साम्यावस्थामें [प्राप्त होनेवाले] सुखका आस्वादन न करे, बल्कि विवेकवती बुद्धिके द्वारा उससे निःसंग रहे। फिर यदि चित्त बाहर निकलने लगे तो उसे प्रयत्नपूर्वक निश्चल और एकाग्र करे॥ ४५॥

समाधित्सतो योगिनो यत्सुखं जायते तन्नास्वादयेत्, तत्र न रज्येतेत्यर्थः। कथं तर्हि? निःसङ्गो निस्पृहः प्रज्ञया विवेकबुद्ध्या यदुपलभ्यते सुखं तदविद्यापरिकल्पितं मृषैवेति

समाधिकी इच्छावाले योगीको जो सुख प्राप्त होता है उसका आस्वादन न करे अर्थात् उसमें राग न करे तो फिर कैसे रहे? निःसङ्ग अर्थात् निःस्पृह होकर प्रज्ञा—विवेकवती बुद्धिसे ऐसी भावना करे कि यह जो कुछ सुख अनुभव हो रहा है वह अविद्यापरिकल्पित और

विभावयेत्। ततोऽपि सुखरागान्निगृह्णीयादित्यर्थः।

यदा पुनः सुखरागान्निवृत्तं निश्चलस्वभावं सन्निश्चरद्बहिर्निर्गच्छद्भवति चित्तं ततस्ततो नियम्योक्तोपायेनात्मन्येवैकीकुर्यात्प्रयत्नतः। चित्स्वरूपसत्तामात्रमेवापादयेदित्यर्थः॥ ४५॥

मिथ्या ही है। तात्पर्य यह कि उस सुखके रागसे भी चित्तका निग्रह करे।

जिस समय सुखके रागसे निवृत्त होकर निश्चलस्वभाव हुआ चित्त फिर बाहर निकलने लगे तब उसे उपर्युक्त उपायसे वहाँसे भी रोककर प्रयत्नपूर्वक आत्मामें एकाग्र करे। तात्पर्य यह है कि उसे चित्स्वरूप सत्तामात्र ही सम्पादित करे॥ ४५॥



मन कब ब्रह्मरूप होता है?

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥ ४६॥

जिस समय चित्त सुषुप्तिमें लीन न हो और फिर विक्षिप्त भी न हो तथा निश्चल और विषयाभाससे रहित हो जाय उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है॥ ४६॥

यथोक्तोपायेन निगृहीतं चित्तं यदा सुषुप्ते न लीयते न च पुनर्विषयेषु विक्षिप्यते, अनिङ्गनमचलं निवातप्रदीपकल्पम्, अनाभासं न केनचित्

उपर्युक्त उपायसे निग्रह किया हुआ चित्त जिस समय सुषुप्तिमें लीन नहीं होता और न फिर विषयोंमें ही विक्षिप्त होता है तथा वायुशून्य स्थानमें रखे हुए दीपकके समान निश्चल और अनाभास अर्थात् जो किसी भी

कल्पितेन विषयभावेनावभासत इति, यदैवंलक्षणं चित्तं तदा निष्पन्नं ब्रह्म ब्रह्मस्वरूपेण निष्पन्नं चित्तं भवतीत्यर्थः॥ ४६॥

कल्पित विषयभावसे प्रकाशित नहीं होता—ऐसा जिस समय यह चित्त हो जाता है उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है, अर्थात् उस अवस्थामें चित्त ब्रह्मरूपसे निष्पन्न हो जाता है॥ ४६॥



स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्।
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते॥ ४७॥

[उस अवस्थामें जो आनन्द अनुभव होता है उसे ब्रह्मज्ञ लोग] स्वस्थ, शान्त, निर्वाणयुक्त, अकथनीय, निरतिशयसुखस्वरूप, अजन्मा, अजन्मा ज्ञेय (ब्रह्म) से अभिन्न और सर्वज्ञ बतलाते हैं॥ ४७॥

यथोक्तं परमार्थसुखमात्मसत्यानुबोधलक्षणं स्वस्थं स्वात्मनि स्थितम्, शान्तं सर्वानर्थोपशमरूपम्, सनिर्वाणं निर्वृतिर्निर्वाणं कैवल्यं सह निर्वाणेन वर्तते, तच्चाकथ्यं न शक्यते कथयितुम्, अत्यन्तासाधारणविषयत्वात्; सुखमुत्तमं निरतिशयं हि तद्योगिप्रत्यक्षमेव। न जातमित्यजं यथा विषयविषयम्। अजेनानुत्पन्नेन ज्ञेयेनाव्यतिरिक्तं

उपर्युक्त आत्मसत्यानुबोधरूप परमार्थ-सुख 'स्वस्थम्'—अपने आत्मामें ही स्थित, 'शान्तम्'—सब प्रकारके अनर्थकी निवृत्तिरूप, 'सनिर्वाणम्'—निर्वाण—निर्वृति अर्थात् कैवल्यको कहते हैं, उस निर्वाणके सहित, तथा 'अकथ्यम्'—जो कहा न जा सके, क्योंकि उसका विषय अत्यन्त असाधारण है, 'सुखमुत्तमम्'—योगियोंको ही प्रत्यक्ष होनेवाला होनेके कारण निरतिशय सुख है। तथा 'अजम्'—जो उत्पन्न न हो, जिस प्रकार कि विषयसम्बन्धी सुख हुआ करता है, और अज यानी

सत्त्वेन सर्वज्ञरूपेण सर्वज्ञं ब्रह्मैव सुखं परिचक्षते कथयन्ति ब्रह्मविदः ॥ ४७ ॥

उत्पन्न न होनेवाले ज्ञेयसे अभिन्न होनेके कारण अपने सर्वज्ञरूपसे स्वयं ब्रह्म ही वह सुख है—ऐसा ब्रह्मज्ञलोग [उसके विषयमें] कहते हैं ॥ ४७ ॥

परमार्थसत्य क्या है?

सर्वोऽप्ययं मनोनिग्रहादि-मृल्लोहादिवत्सृष्टिरुपासना चोक्ता परमार्थस्वरूपप्रतिपत्त्युपायत्वेन न परमार्थसत्येति। परमार्थसत्यं तु

मृत्तिका और लोहादिके समान ये मनोनिग्रहादि सम्पूर्ण सृष्टि तथा उपासना परमार्थस्वरूपकी प्राप्तिके उपायरूपसे ही कहे गये हैं; ये परमार्थसत्य नहीं हैं। परमार्थसत्य तो यही है कि—

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते॥ ४८ ॥

कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं है। जिस अजन्मा ब्रह्ममें किसीकी उत्पत्ति नहीं होती वही सर्वोत्तम सत्य है॥ ४८॥

न कश्चिज्जायते जीवः कर्ता भोक्ता च नोत्पद्यते केनचिदपि प्रकारेण। अतः स्वभावतोऽजस्यास्यैकस्यात्मनः सम्भवः कारणं न विद्यते नास्ति। यस्मान्न विद्यतेऽस्य कारणं तस्मान्न

कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता—अर्थात् किसी भी प्रकारसे कर्ता-भोक्ताकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः स्वभावसे ही इस एक अजन्मा आत्माका कोई सम्भव—कारण नहीं है। और क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है इसलिये

कश्चिज्जायते जीव इत्येतत्। पूर्वेषूपायत्वेनोक्तानां सत्यानामेतदुत्तमं सत्यं यस्मिन्सत्यस्वरूपे ब्रह्मण्यणुमात्रमपि किंचिन्न जायत इति॥ ४८॥

किसी जीवकी उत्पत्ति भी नहीं होती—यही इसका तात्पर्य है। पहले उपायरूपसे बतलाये हुए सत्योंमें यही उत्तम सत्य है, जिस सत्यस्वरूप ब्रह्ममें कोई भी वस्तु अणुमात्र भी उत्पन्न नहीं होती॥ ४८॥



इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ गौडपादीयागमशास्त्रभाष्येऽद्वैताख्यं तृतीयं प्रकरणम्॥ ३॥

ॐ तत्सत्



अलातशान्तिप्रकरण

प्रकरण-प्रयोजनम्

ओङ्कारनिर्णयद्वारेणागमतः प्रतिज्ञातस्याद्वैतस्य बाह्यविषयभेदवैतथ्याच्च सिद्धस्य पुनरद्वैते शास्त्रयुक्तिभ्यां साक्षान्निर्धारितस्यैतदुत्तमं सत्यमित्युपसंहारः कृतोऽन्ते। तस्यैतस्यागमार्थस्याद्वैतदर्शनस्य प्रतिपक्षभूता द्वैतिनो वैनाशिकाश्च तेषां चान्योन्यविरोधाद्रागद्वेषादिक्लेशास्पदं दर्शनमिति मिथ्यादर्शनत्वं सूचितम्। क्लेशानास्पदत्वात्सम्यग्दर्शनमित्यद्वैतदर्शनं स्तूयते। तदिह विस्तरेणान्योन्यविरुद्धतयाऽसम्यग्दर्शनत्वं प्रदर्श्य

ओङ्कारके निर्णयद्वारा आगमप्रकरणमें प्रतिज्ञा किये अद्वैतका—जिसे कि [वैतथ्यप्रकरणमें] बाह्य विषयभेदके मिथ्यात्वद्वारा सिद्ध किया है और फिर अद्वैतप्रकरणमें शास्त्र और युक्तियोंसे साक्षात् निश्चय किया है] [पिछले प्रकरणके] अन्तमें 'एतदुत्तमं सत्यम्' ऐसा कहकर उपसंहार किया गया। वेदके तात्पर्यभूत इस अद्वैतदर्शनके विरोधी जो द्वैतवादी और वैनाशिक (बौद्ध आदि) हैं उनके दर्शन परस्पर विरोधी होनेके कारण राग-द्वेषादि क्लेशोंके आश्रय हैं, अतः उनका मिथ्यादर्शनत्व सूचित होता है। और राग-द्वेषादि क्लेशोंका आश्रय न होनेके कारण अद्वैतदर्शन ही सम्यग्दर्शन है—इस प्रकार उसकी स्तुति की जाती है। अब यहाँ, परस्पर विरोधी होनेके कारण विस्तारपूर्वक उन (द्वैतवादी आदि दार्शनिकोंके दर्शन) का मिथ्यादर्शनत्व प्रदर्शित कर

तत्प्रतिषेधेनाद्वैतदर्शनसिद्धिरूपसंहर्तव्यावीतन्यायेनेत्यलातशान्तिरारभ्यते।

उनके प्रतिषेधद्वारा आवीतन्यायसे* अद्वैतदर्शनकी सिद्धिका उपसंहार करना है—इसीलिये अलातशान्तिप्रकरणका आरम्भ किया जाता है।

तत्राद्वैतदर्शनसम्प्रदायकर्तुरद्वैतस्वरूपेणैव नमस्कारार्थोऽयमाद्यश्लोकः। आचार्यपूजा ह्यभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थेष्यते शास्त्रारम्भे।

उसमें अद्वैतदर्शनसम्प्रदायके कर्ताको अद्वैतरूपसे ही नमस्कार करनेके लिये यह पहला श्लोक है, क्योंकि शास्त्रके आरम्भमें आचार्यकी पूजा अभिप्रेत अर्थकी सिद्धिके लिये इष्ट ही है।

नारायण-नमस्कार

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्॥ १॥

जिसने ज्ञेय (आत्मा) से अभिन्न आकाशसदृश ज्ञानसे आकाशसदृश धर्मों-(जीवों) को जाना है उस पुरुषोत्तमको नमस्कार करता हूँ॥ १॥

आकाशेनेषदसमाप्तमाकाशकल्पमाकाशतुल्यमेतत्। तेनाकाशकल्पेन ज्ञानेन, किम्?

जो आकाशकी अपेक्षा कुछ असम्पूर्ण हो† उसे आकाशकल्प अर्थात् आकाशतुल्य कहते हैं। उस आकाशसदृश ज्ञानसे-किसे? आत्माके

---

* अनुमान दो प्रकारका है—अन्वयी और व्यतिरेकी। अन्वयी अनुमानमें एक वस्तुकी सत्तासे दूसरी वस्तुकी सत्ता सिद्ध की जाती है तथा व्यतिरेकीमें एक वस्तुके अभावसे दूसरी वस्तुका अभाव सिद्ध किया जाता है। इस व्यतिरेकी अनुमानका ही दूसरा नाम 'आवीत अनुमान' भी है।

† असम्पूर्णका यह भाव नहीं समझना चाहिये कि ब्रह्म आकाशकी अपेक्षा कुछ न्यून है। इसका केवल यही भाव है कि वह सर्वथा आकाशरूप ही नहीं है—आकाशसे कुछ मिलता-जुलता है।

धर्मानात्मनः, किं विशिष्टान्गगनोपमान्गगनमुपमा येषां ते गगनोपमास्तानात्मनो धर्मान्। ज्ञानस्यैव पुनर्विशेषणम्—ज्ञेयैर्धर्मैरात्मभिरभिन्नमग्न्युष्णवत्सवितृप्रकाशवच्च ज्ञानं तेन ज्ञेयाभिन्नेन ज्ञानेनाकाशकल्पेन ज्ञेयात्मस्वरूपाव्यतिरिक्तेन गगनोपमान्धर्मान्यः संबुद्धः संबुद्धवानिति, अयमेवेश्वरो यो नारायणाख्यस्तं वन्देऽभिवादये द्विपदां वरं द्विपदोपलक्षितानां पुरुषाणां वरं प्रधानं पुरुषोत्तममित्यभिप्रायः।

उपदेष्टृनमस्कारमुखेन ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वदर्शनमिह प्रकरणे प्रतिपिपादयिषितं प्रतिपक्षप्रतिषेधद्वारेण प्रतिज्ञातं भवति॥ १॥

धर्मोंको। किस प्रकारके धर्मोंको? गगनोपम धर्मोंको—गगन (आकाश) जिनकी उपमा हो उन्हें गगनोपम कहते हैं—ऐसे आत्माके धर्मोंको। ज्ञानका ही फिर विशेषण देते हैं—अग्निसे उष्णता ओर सूर्यसे प्रकाशके समान जो ज्ञान ज्ञेय धर्मों अर्थात् आत्माओंसे अभिन्न है उस ज्ञेयाभिन्न अर्थात् ज्ञेय आत्माके स्वरूपसे अव्यतिरिक्त आकाशसदृश ज्ञानसे जिसने आकाशोपम धर्मोंको सदा ही सम्यक् प्रकार जाना है—ऐसा जो नारायणसंज्ञक* ईश्वर है उस द्विपदांवर—दो पदोंसे उपलक्षित पुरुषोंमें श्रेष्ठ यानी प्रधान पुरुषोत्तमकी वन्दना—अभिवादन करता हूँ।

उपदेष्टाको नमस्कार करनेसे यह प्रतिज्ञा की जाती है कि इस प्रकरणमें विरुद्ध पक्षके प्रतिषेधद्वारा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाताके भेदसे रहित परमार्थदर्शनका प्रतिपादन करना अभीष्ट है॥ १॥



अद्वैतदर्शनकी वन्दना

अधुना अद्वैतदर्शनयोगस्य नमस्कारस्तत्स्तुतये—

अब अद्वैतदर्शनयोगको, उसकी स्तुतिके लिये, नमस्कार किया जाता है—

* यहाँ अद्वैतसम्प्रदायके आदि आचार्य बदरिकाश्रमाधीश्वर तापसाग्रगण्य श्रीनारायणकी वन्दना की गयी है।

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम्॥ २॥

[शास्त्रोंमें] जिस सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये सुखकर, हितकारी, निर्विवाद और अविरोधी अस्पर्शयोगका उपदेश किया गया है, उसे मैं नमस्कार करता हूँ॥ २॥

स्पर्शनं स्पर्शः सम्बन्धो न विद्यते यस्य योगस्य केनचित्कदाचिदपि सोऽस्पर्शयोगो ब्रह्मस्वभाव एव, वै नामेति ब्रह्मविदामस्पर्शयोग इत्येवंप्रसिद्ध इत्यर्थः। स च सर्वसत्त्वसुखः। भवति कश्चिदत्यन्तसुखसाधनविशिष्टोऽपि दुःखरूपः, यथा तपः। अयं तु न तथा। किं तर्हि सर्वसत्त्वानां सुखः।

तथेह भवति कश्चिद्विषयोपभोगः सुखो न हितः। अयं तु सुखो हितश्च नित्यमप्रचलितस्वभावत्वात्। किं चाविवादो विरुद्धवदनं विवादः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण यस्मिन्न विद्यते सोऽविवादः। कस्मात्? यतोऽविरुद्धश्च। य ईदृशो योगो

जिस योगका किसीसे कभी स्पर्श यानी सम्बन्ध नहीं है, उसे 'अस्पर्शयोग' कहते हैं; वह ब्रह्मस्वभाव ही है। 'वै' 'नाम' इन पदोंका यह तात्पर्य है कि वह 'ब्रह्मवेत्ताओंका अस्पर्शयोग' इस नामसे प्रसिद्ध है और वह समस्त प्राणियोंके लिये सुखकर होता है। कोई विषय तो अत्यन्त सुखसाधनविशिष्ट होनेपर भी दुःखरूप होता है, जैसा कि तप। किन्तु यह ऐसा नहीं है। तो फिर कैसा है? यह सभी प्राणियोंके लिये सुखदायक है।

इसी प्रकार इस लोकमें कोई-कोई विषयसामग्री सुखदायक तो होती है किन्तु हितकर नहीं होती। किन्तु यह तो सर्वदा अविचल स्वभाव होनेके कारण सुखदायक भी है और हितकर भी। यही नहीं, यह अविवाद भी है। जिसमें पक्ष-प्रतिपक्ष स्वीकार करके विरुद्ध कथनरूप विवाद नहीं होता उसे अविवाद कहते हैं। ऐसा यह क्यों है? क्योंकि यह सबसे अविरुद्ध है। ऐसे

देशितः, **उपदिष्टः शास्त्रेण तं** **नमाम्यहं प्रणमामीत्यर्थः** ॥ २ ॥

जिस योगका शास्त्रने उपदेश किया है, उसे मैं नमस्कार यानी प्रणाम करता हूँ।

द्वैतवादियोंका पारस्परिक विरोध

कथं द्वैतिनः परस्परं विरुध्यन्ते? इत्युच्यते—

द्वैतवादियोंमें परस्पर किस प्रकार विरोध है? सो बतलाया जाता है—

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि।
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम्॥ ३ ॥

उनमेंसे कोई-कोई वादी तो सत् पदार्थकी उत्पत्ति मानते हैं और कोई दूसरे बुद्धिशाली परस्पर विवाद करते हुए असत्पदार्थकी उत्पत्ति स्वीकार करते हैं॥ ३ ॥

भूतस्य विद्यमानस्य वस्तुनो **जातिमुत्पत्तिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि** सांख्या न सर्व एव द्वैतिनः। यस्मादभूतस्याविद्यमानस्यापरे वैशेषिका नैयायिकाश्च **धीरा** धीमन्तः प्राज्ञाभिमानिन इत्यर्थो **विवदन्तो** विरुद्धं वदन्तो ह्यन्योन्यमिच्छन्ति जेतुमित्यभिप्रायः॥ ३ ॥

कोई-कोई वादी—केवल सांख्यमतावलम्बी, सम्पूर्ण द्वैतवादी नहीं—भूत यानी विद्यमान वस्तुकी जाति—उत्पत्ति मानते हैं; और क्योंकि दूसरे धीर-बुद्धिमान् यानी प्राज्ञाभिमानी वैशेषिक और नैयायिक लोग अभूत अर्थात् अविद्यमान वस्तुका जन्म स्वीकार करते हैं, इसलिये परस्पर विवाद यानी विरुद्ध भाषण करते हुए वे एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छा करते रहते हैं—यह इसका तात्पर्य है॥ ३ ॥

तैरेवं विरुद्धवदनेनान्योन्यपक्षप्रतिषेधं कुर्वद्भिः किं ख्यापितं भवत्युच्यते—

परस्पर विवाद करके एक-दूसरेके पक्षका खण्डन करनेवाले उन वादियोंद्वारा किस सिद्धान्तका प्रकाश किया जाता है, सो बतलाते हैं—

भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते॥ ४॥

[किन्हींका मत है—] 'कोई सद्वस्तु उत्पन्न नहीं होती' और [कोई कहते हैं—] 'असद्वस्तुका जन्म नहीं होता'—इस प्रकार परस्पर विवाद करनेवाले ये अद्वैतवादी* अजाति (अजातवाद) को ही प्रकाशित करते हैं॥ ४॥

भूतं विद्यमानं वस्तु न जायते किंचिद्विद्यमानत्वादेवात्मवदित्येवं वदन्नसद्वादी सांख्यपक्षं प्रतिषेधति सज्जन्म। तथा भूतमविद्यमानमविद्यमानत्वान्नैव जायते शशविषाणवदित्येवं वदन्सांख्योऽप्यसद्वादिपक्षमसज्जन्म प्रतिषेधति। विवदन्तो विरुद्धं वदन्तोऽद्वया अद्वैतिनो ह्येते अन्योन्यस्य पक्षौ सदसतोर्जन्मनी प्रतिषेधन्तोऽजातिमनुत्पत्तिमर्थात्ख्यापयन्ति प्रकाशयन्ति ते॥ ४॥

कोई भी भूत अर्थात् विद्यमान वस्तु, विद्यमान होनेके कारण ही उत्पन्न नहीं होती; जैसे कि आत्मा—इस प्रकार कहकर असद्वादी, सांख्यके पक्ष सद्वादका खण्डन करता है। तथा सांख्य भी 'अभूत-अविद्यमान वस्तु अविद्यमान होनेके कारण ही शशशृङ्गके समान उत्पन्न नहीं हो सकती'—ऐसा कहकर असद्वादीके पक्ष असत्‌की उत्पत्तिका प्रतिषेध करता है। इस प्रकार परस्पर विवाद यानी विरुद्ध भाषण करनेवाले ये अद्वैतवादी—क्योंकि वस्तुतः ये अद्वैतवादी ही हैं—एक-दूसरेके पक्ष सज्जन्म और असज्जन्मका खण्डन करते हुए अर्थतः अजाति—अनुत्पत्तिको ही प्रकाशित करते हैं॥ ४॥



द्वैतवादियोंद्वारा प्रदर्शित अजातिका अनुमोदन

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम्।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत॥ ५॥

* यहाँ द्वैतवादियोंको ही व्यंगसे 'अद्वैतवादी' कहा है।

उनके द्वारा प्रकाशित की हुई अजातिका हम भी अनुमोदन करते हैं। हम उनसे विवाद नहीं करते। अतः तुम उस निर्विवाद [परमार्थदर्शन] को अच्छी तरह समझ लो॥ ५॥

तैरेवं ख्याप्यमानामजातिमेवमस्त्वित्यनुमोदामहे केवलं न तैः सार्धं विवदामः पक्षप्रतिपक्षग्रहणेन; यथा तेऽन्योन्यमित्यभिप्रायः। अतस्तमविवादं विवादरहितं परमार्थदर्शनमनुज्ञातमस्माभिर्निबोधत हे शिष्याः॥ ५॥

उनके द्वारा इस प्रकार प्रकाशित की गयी अजातिका हम 'ऐसा ही हो' इस प्रकार केवल अनुमोदन करते हैं। तात्पर्य यह है कि पक्ष-प्रतिपक्ष लेकर उनके साथ विवाद नहीं करते, जैसा कि वे आपसमें किया करते हैं। अतः हे शिष्यगण! हमारे द्वारा उपदेश किये हुए उस अविवाद—विवादरहित परमार्थदर्शनको तुम अच्छी तरह समझ लो॥ ५॥



अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति॥ ६॥

ये वादीलोग अजात वस्तुका ही जन्म होना स्वीकार करते हैं। किन्तु जो पदार्थ निश्चय ही अजात और अमृत है वह मरणशीलताको कैसे प्राप्त हो सकता है?॥ ६॥

सदसद्वादिनः सर्वेऽपीति पुरस्तात्कृतभाष्यश्लोकः॥ ६॥

यहाँ ['वादिनः' पदसे] सभी सद्वादी और असद्वादी अभिप्रेत हैं। इस श्लोकका भाष्य पहले * किया जा चुका है॥ ६॥



स्वभावविपर्यय असम्भव है

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति॥ ७॥

* देखिये अद्वैतप्रकरण श्लोक २० का अर्थ।

मरणरहित वस्तु कभी मरणशील नहीं हो सकती और मरणशील मरणहीन नहीं हो सकती, क्योंकि किसीके स्वभावका विपर्यय किसी प्रकार होनेवाला नहीं है॥ ७॥

स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यताम्।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः॥८॥

जिसके मतमें स्वभावसे ही मरणहीन धर्म मरणशीलताको प्राप्त हो जाता है; उसके सिद्धान्तानुसार कृतक (जन्म) होनेके कारण वह अमृत पदार्थ निश्चल (चिरस्थायी) कैसे रह सकेगा?॥ ८॥

उक्तार्थानां श्लोकानामिहोपन्यासः परवादिपक्षाणामन्योन्यविरोधख्यापितानुत्पत्त्यनुमोदनप्रदर्शनार्थः॥ ७-८॥

जिनका अर्थ पहले कहा जा चुका है ऐसे उपर्युक्त [तीन] श्लोकोंका उल्लेख यहाँ विपक्षी वादियोंके पक्षोंके पारस्परिक विरोधसे प्रकाशित अजातिका अनुमोदन प्रदर्शित करनेके लिये किया गया है॥ ७-८॥



यस्माल्लौकिक्यपि प्रकृतिर्न विपर्येति, कासावित्याह—

क्योंकि लौकिक प्रकृतिका भी विपर्यय नहीं होता [फिर पारमार्थिकीका तो कैसे होगा?] किन्तु वह प्रकृति है क्या? इसपर कहते हैं—

सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या।
प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या॥९॥

जो उत्तम सिद्धिद्वारा प्राप्त, स्वभावसिद्धा, सहजा और अकृता है तथा कभी अपने स्वभावका परित्याग नहीं करती वही 'प्रकृति' है—ऐसा जानना चाहिये॥ ९॥

सम्यक्सिद्धिः संसिद्धिस्तत्र भवा सांसिद्धिकी यथा योगिनां सिद्धानाम् अणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिः प्रकृतिः। सा भूतभविष्यत्कालयोरपि योगिनां न विपर्येति तथैव सा। तथा स्वाभाविकी द्रव्यस्वभावत एव यथाग्न्यादीनाम् उष्णप्रकाशादिलक्षणा, सापि न कालान्तरे व्यभिचरति देशान्तरे च। तथा सहजा आत्मना सहैव जाता यथा पक्ष्यादीनामाकाशगमनादिलक्षणा।

सम्यक् सिद्धिका नाम संसिद्धि है; उससे होनेवालीको 'सांसिद्धिकी' कहते हैं; जिस प्रकार कि सिद्ध योगियोंको अणिमादि ऐश्वर्यकी प्राप्ति उनकी प्रकृति है। योगियोंकी उस प्रकृतिका भूत और भविष्यत् कालमें भी विपर्यय नहीं होता—वह जैसी-की-तैसी ही रहती है। तथा 'स्वाभाविकी' वस्तुके स्वभावसे सिद्ध; जैसी कि अग्नि आदिकी उष्णता एवं प्रकाशादिरूपा प्रकृति होती है। उसका भी कालान्तर और देशान्तरमें व्यभिचार नहीं होता। तथा 'सहजा'—अपने साथ ही उत्पन्न होनेवाली; जैसे कि पक्षी आदिकी आकाशगमनादिरूपा प्रकृति होती है।

अन्यापि या काचिदकृता केनचिन्न कृता यथापां निम्नदेशगमनादिलक्षणा। अन्यापि या काचित्स्वभावं न जहाति सा सर्वा प्रकृतिरिति विज्ञेया लोके। मिथ्याकल्पितेषु लौकिकेष्वपि वस्तुषु प्रकृतिर्नान्यथा भवति किमुताजस्वभावेषु परमार्थवस्तुष्वमृतत्वलक्षणा प्रकृतिर्नान्यथा भवतीत्यभिप्रायः॥ ९॥

और भी जो कोई 'अकृता'—किसीके द्वारा सम्पादन न की हुई; जैसे कि जलोंकी प्रकृति निम्न प्रदेशकी ओर जानेकी है। तथा इसके सिवा अन्य भी जो कोई अपने स्वभावको नहीं छोड़ती उस सबको लोकमें 'प्रकृति' नामसे ही जानना चाहिये। मिथ्या कल्पना की हुई लौकिक वस्तुओंमें भी उनकी प्रकृति अन्यथा नहीं होती; फिर अजस्वभाव परमार्थ वस्तुओंमें उनकी अमृतत्वलक्षणा प्रकृति अन्यथा नहीं हो सकती—इसमें तो कहना ही क्या है? यह इसका अभिप्राय है॥ ९॥

जीवका जरामरण माननेमें दोष

किं विषया पुनः सा प्रकृतिर्यस्या अन्यथाभावो वादिभिः कल्प्यते कल्पनायां वा को दोष इत्याह—

वादीलोग जिसके अन्यथाभावकी कल्पना करते हैं उस प्रकृतिका विषय क्या है? और उनकी कल्पनामें क्या दोष है? इसपर कहते हैं—

जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः।
जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषया॥ १०॥

समस्त जीव स्वभावसे ही जरा-मरणसे रहित हैं। उनके जरा-मरण स्वीकार करनेवाले लोग, इस विचारके कारण ही, स्वभावसे च्युत हो जाते हैं॥ १०॥

जरामरणनिर्मुक्ताः — जरामरणादिसर्वविक्रियावर्जिता इत्यर्थः। के? सर्वे धर्माः सर्व आत्मान इत्येतत्स्वभावतः प्रकृतितः। एवं स्वभावाः सन्तो धर्मा जरामरणमिच्छन्त इच्छन्त इवेच्छन्तो रज्ज्वामिव सर्पमात्मनि कल्पयन्तश्च्यवन्ते स्वभावतश्चलन्तीत्यर्थः, तन्मनीषया जन्ममरणचिन्तया तद्भावभावितत्वदोषेणेत्यर्थः॥ १०॥

'जरामरणनिर्मुक्ताः' अर्थात् जरामरणादि सम्पूर्ण विकारोंसे रहित हैं। कौन? सम्पूर्ण धर्म अर्थात् समस्त जीवात्मा, स्वभावतः यानी प्रकृतिसे ही। ऐसे स्वभाववाले होनेपर भी जरा-मरणके इच्छुकके समान इच्छा करनेवाले अर्थात् रज्जुमें सर्पकी भाँति आत्मामें जरा-मरणकी कल्पना करनेवाले जीव, उसकी मनीषा—जरामरणकी चिन्तासे अर्थात् उस भावसे भावित होनेके दोषवश अपने स्वभावसे च्युत—विचलित हो जाते हैं॥ १०॥



सांख्यमतपर वैशेषिककी आपत्ति

कथं सज्जातिवादिभिः सांख्यैरनुपपन्नमुच्यत इत्याह वैशेषिकः—

सज्जातिवादी सांख्यमतावलम्बियोंका कथन किस प्रकार असङ्गत है? सो वैशेषिकमतावलम्बी बतलाते हैं—

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते।
जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत्॥ ११॥

जिस (सांख्यमतावलम्बी) के मतमें कारण ही कार्य है उसके सिद्धान्तानुसार कारण ही उत्पन्न होता है। किन्तु जब कि वह जन्म लेनेवाला है तो अजन्मा कैसे हो सकता है और भिन्न (विदीर्ण) होनेपर भी नित्य कैसे हो सकता है?॥ ११॥

कारणं मृद्वदुपादानलक्षणं यस्य वादिनो वै कार्यं कारणमेव कार्याकारेण परिणमते यस्य वादिन इत्यर्थः, तस्याजमेव सत्प्रधानादि कारणं महदादिकार्यरूपेण जायत इत्यर्थः। महदाद्याकारेण चेज्जायमानं प्रधानं कथमजमुच्यते तैर्विप्रतिषिद्धं चेदं जायतेऽजं चेति।

नित्यं च तैरुच्यते प्रधानं भिन्नं विदीर्णं स्फुटितमेकदेशेन सत्कथं नित्यं भवेदित्यर्थः। न हि सावयवं

जिस वादीके मतमें मृत्तिकाके समान उपादान कारण ही कार्य है अर्थात् जिसके मतमें कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है उसके सिद्धान्तानुसार प्रधानादि कारण अजन्मा होता हुआ भी महदादि कार्यरूपसे उत्पन्न होता है—ऐसा इसका तात्पर्य है। किन्तु यदि प्रधान महदादिरूपसे उत्पन्न होनेवाला है तो वे उसे अजन्मा कैसे बतलाते हैं? उत्पन्न होता है और अजन्मा भी है—ऐसा कथन तो परस्पर विरुद्ध है।

इसके सिवा वे प्रधानको नित्य भी बतलाते हैं। किन्तु वह भिन्न-विदीर्ण अर्थात् एक देशमें स्फुटित यानी विकृत होनेवाला* होकर भी नित्य कैसे हो

* जैसे बीज अङ्कुररूपसे फूटता है।

घटादि एकदेशस्फुटनधर्मि नित्यं दृष्टं लोक इत्यर्थः। विदीर्णं च स्यादेकदेशेनाजं नित्यं चेति एतद्विप्रतिषिद्धं तैरभिधीयत इत्यभिप्रायः॥ ११॥

सकता है? तात्पर्य यह कि घटादि सावयव पदार्थ, जो एक देशमें स्फुटित होनेवाले हैं, लोकमें कभी नित्य नहीं देखे गये। वह अपने एक देशमें विदीर्ण होता है तथा अज और नित्य भी है—यह तो उनका विरुद्ध कथन ही है—ऐसा इसका अभिप्राय है॥ ११॥



उक्तस्यैवार्थस्य स्पष्टीकरणार्थमाह—

उपर्युक्त अभिप्रायका ही स्पष्टीकरण करनेके लिये कहते हैं—

कारणाद्यद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं यदि।
जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम्॥ १२॥

यदि कारणसे कार्यकी अभिन्नता है तब तो तुम्हारे मतमें कार्य भी अजन्मा है; और यदि ऐसी बात है तो उत्पन्न होनेवाले कार्यसे अभिन्न होनेपर कारण भी किस प्रकार निश्चल रह सकता है?॥ १२॥

कार्यकारणयोरभिन्नत्वे विप्रतिपत्तिः

कारणादजात्कार्यस्य यद्यनन्यत्वमिष्टं त्वया ततः कार्यमजमिति प्राप्तम्। इदं चान्यद्विप्रतिषिद्धं कार्यमजं चेति तव। किं चान्यत्कार्यकारणयोरनन्यत्वे जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणमनन्यन्नित्यं ध्रुवं च ते कथं

यदि तुम्हें अजन्मा कारणसे कार्यकी अनन्यता इष्ट है तो [तुम्हारे मतमें] यह बात सिद्ध होती है कि कार्य भी अजन्मा है। किन्तु कार्य है और अजन्मा है—यह तुम्हारे कथनमें एक दूसरा विरोध है। इसके सिवा, कार्य और कारणकी अनन्यता होनेपर उत्पत्तिशील कार्यसे अभिन्न उसका कारण नित्य और निश्चल कैसे रह सकता है? ऐसा कभी नहीं हो सकता

भवेत्। न हि कुक्कुट्या एकदेशः पच्यत एकदेशः प्रसवाय कल्प्यते॥ १२॥

कि मुर्गीका एक अंश तो पकाया जाय और दूसरा सन्तानोत्पत्तिके योग्य बनाये रखा जाय॥ १२॥



किं चान्यत्—

इसके सिवा और भी—

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै।
जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते॥ १३॥

जिसके मतमें अजन्मा वस्तुसे ही किसी कार्यकी उत्पत्ति होती है उसके पास निश्चय ही इसका कोई दृष्टान्त नहीं है। और यदि जात पदार्थसे ही कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो अनवस्था उपस्थित हो जाती है॥ १३॥

जाताजातयोरुभयोरपि कारणत्वानुपपत्तिः

अजादनुत्पन्नाद्वस्तुनो जायते यस्य वादिनः कार्यं दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै, दृष्टान्ताभावेऽर्थादजान्न किंचिज्जायत इति सिद्धं भवतीत्यर्थः। यदा पुनर्जाताज्जायमानस्य वस्तुनोऽभ्युपगमः, तदप्यन्स्माद् जातात्तदप्यन्यस्मादिति न व्यवस्था प्रसज्यते। अनवस्थानं स्यादित्यर्थः॥ १३॥

जिस वादीके मतमें अज—अनुत्पन्न वस्तुसे कार्यकी उत्पत्ति होती है उसके पास निश्चय ही कोई दृष्टान्त नहीं है। अतः तात्पर्य यह हुआ कि दृष्टान्तका अभाव होनेके कारण यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि अज वस्तुसे किसीकी उत्पत्ति नहीं होती। और जब किसी जात—उत्पन्न होनेवाली वस्तुसे कार्यवर्गकी उत्पत्ति मानी जाती है तो वह भी किसी अन्य जात वस्तुसे उत्पन्न होनी चाहिये और वह किसी औरहीसे उत्पन्न होनी चाहिये—इस प्रकार कोई व्यवस्था ही नहीं रहती; अर्थात् अनवस्था उपस्थित हो जाती है॥ १३॥



हेतु और फलके अन्योन्यकारणत्वमें दोष

"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृ० उ० २। ४। १४) इति परमार्थतो द्वैताभावः श्रुत्योक्तस्तमाश्रित्याह—

"जिस अवस्थामें इसकी दृष्टिमें सब आत्मा ही हो गया है" इस श्रुतिने जो परमार्थतः द्वैतका अभाव बतलाया है, उसीको आश्रित करके कहते हैं—

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च।
हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते॥ १४॥

जिनके मतमें हेतुका कारण फल है और फलका कारण हेतु है वे हेतु और फलके अनादित्वका प्रतिपादन कैसे करते हैं?॥ १४॥

हेतोर्धर्मादेरादिः कारणं देहादिसंघातः फलं येषां वादिनाम्। तथादिः कारणं हेतुर्धर्माधर्मादिः फलस्य च देहादिसंघातस्य। एवं हेतुफलयोरितरेतरकार्यकारणत्वेनादिमत्त्वं ब्रुवद्भिरेवं हेतोः फलस्य चानादित्वं कथं तैरुपवर्ण्यते? विप्रतिषिद्धमित्यर्थः। न हि नित्यस्य कूटस्थस्यात्मनो हेतुफलात्मता संभवति॥ १४॥

जिन वादियोंके मतमें हेतु अर्थात् धर्मादिका आदिकारण देहादि संघातरूप फल है तथा देहादि संघातरूप फलका आदिकारण धर्माधर्मादि हेतु है* —इस प्रकार हेतु और फलका एक-दूसरेके कार्य-कारणरूपसे सकारणत्व बतलानेवाले उन लोगोंद्वारा हेतु और फलका अनादित्व किस प्रकार प्रतिपादन किया जाता है? अर्थात् उनका यह कथन सर्वथा विरुद्ध है। नित्य कूटस्थ आत्माकी हेतुफलात्मकता तो किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है॥ १४॥



* अर्थात् जो धर्मादिको शरीरादिकी प्राप्तिका कारण और शरीरको धर्मादि-सम्पादनका कारण मानते हैं।

कथं तैर्विरुद्धमभ्युपगम्यत इत्युच्यते—

वे किस प्रकार विरुद्ध मतको मानते हैं, सो बतलाया जाता है—

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च।
तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा॥ १५॥

जिनके मतमें हेतुका कारण फल है और फलका कारण हेतु है उनकी [मानी हुई] उत्पत्ति ऐसी ही है जैसे पुत्रसे पिताका जन्म होना॥ १५॥

हेतुजन्यादेव फलाद्धेतोर्जन्माभ्युपगच्छतां तेषामीदृशो विरोध उक्तो भवति यथा पुत्राज्जन्म पितुः॥ १५॥

हेतुसे उत्पन्न होनेवाले फलसे ही हेतुका जन्म माननेवाले उन लोगोंके मतमें ऐसा ही विरोध कहा जाता है जैसे पुत्रसे पिताका जन्म बतलानेमें॥ १५॥



यथोक्तो विरोधो न युक्तोऽभ्युपगन्तुमिति चेन्मन्यसे—

यदि तुम ऐसा मानते हो कि उपर्युक्त विरोध मानना उचित नहीं है तो—

संभवे हेतुफलयोरेषितव्यः क्रमस्त्वया।
युगपत्संभवे यस्मादसम्बन्धो विषाणवत्॥ १६॥

तुम्हें हेतु और फलकी उत्पत्तिमें क्रम स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि उनके साथ-साथ उत्पन्न होनेमें तो [दायें-बायें] सींगोंके समान परस्पर [कार्य-कारणरूप] सम्बन्ध ही नहीं हो सकता॥ १६॥

संभवे हेतुफलयोरुत्पत्तौ क्रम एषितव्यस्त्वयान्वेष्टव्यो हेतुः पूर्वं पश्चात्फलं चेति। इतश्च

तुम्हें हेतु और फलकी उत्पत्तिमें क्रम अर्थात् पहले हेतु होता है और फिर फल—इस प्रकार दोनोंका पौर्वापर्य खोजना चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार गौके साथ-

युगपत्संभवे यस्माद्धेतुफलयोः कार्यकारणत्वेनासम्बन्धः, यथा युगपत्संभवतोः सव्येतरगोविषाणयोः॥ १६॥

साथ उत्पन्न होनेवाले दायें और बायें सींगोंका परस्पर सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार साथ-साथ उत्पन्न होनेपर तो हेतु और फलका परस्पर कार्य-कारणरूपसे सम्बन्ध ही नहीं होगा॥ १६॥



कथमसम्बन्धः? इत्याह—

उनका किस प्रकार सम्बन्ध नहीं होगा? सो बतलाते हैं—

फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतुः प्रसिध्यति।
अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलमुत्पादयिष्यति॥ १७॥

तुम्हारे मतमें यदि हेतु फलसे उत्पन्न होता है तो वह [हेतुरूपसे] सिद्ध ही नहीं हो सकता; और असिद्ध हेतु फलको उत्पन्न कैसे करेगा?॥ १७॥

जन्यात्स्वतोऽलब्धात्मकात् फलादुत्पद्यमानः सञ्शशविषाणादेरिवासतो न हेतुः प्रसिध्यति जन्म न लभते। अलब्धात्मकोऽप्रसिद्धः सञ्शशविषाणादिकल्पस्तव कथं फलमुत्पादयिष्यति? न हीतरेतरापेक्षसिद्धयोः शशविषाणकल्पयोः कार्यकारणभावेन सम्बन्धः क्वचिद् दृष्टः, अन्यथा वेत्यभिप्रायः॥ १७॥

जन्य अर्थात् जो स्वतः प्राप्त नहीं है उस शशशृङ्गके समान असत् फलसे उत्पन्न होनेवाला होनेपर तो हेतु ही सिद्ध नहीं होता अर्थात् उसीका जन्म नहीं हो सकता। इस प्रकार शशशृङ्गके समान जिसकी स्वतः उपलब्धि नहीं है वह अप्रसिद्ध हेतु तुम्हारे मतमें किस प्रकार फल उत्पन्न कर देगा? एक-दूसरेकी अपेक्षासे सिद्ध होनेवाले तथा शशशृङ्गके समान सर्वथा असत् पदार्थोंका कार्य-कारणभावसे अथवा किसी और प्रकार कभी सम्बन्ध नहीं देखा गया—यह इसका अभिप्राय है॥ १७॥



यदि हेतोः फलात्सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुतः।
कतरत्पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया ॥ १८ ॥

[तुम्हारे मतमें] यदि फलसे हेतुकी सिद्धि होती है और हेतुसे फलकी सिद्धि होती है तो उनमें पहले कौन हुआ? जिसकी अपेक्षासे कि दूसरेका आविर्भाव माना जाय?॥ १८॥

असम्बन्धतादोषेणापोदितेऽपि हेतुफलयोः कार्यकारणभावे यदि हेतुफलयोरन्योन्यसिद्धिरभ्युपगम्यत एव त्वया कतरत्पूर्वनिष्पन्नं हेतुफलयोर्यस्य पश्चाद्भाविनः सिद्धिः स्यात्पूर्वसिद्ध्यपेक्षया तद्ब्रूहीत्यर्थः॥ १८॥

हेतु और फलके कार्य-कारणभावका असम्बन्धतादोषसे निराकरण कर दिया जानेपर भी यदि तुम हेतु और फलकी एक-दूसरेसे सिद्धि मानते ही हो तो इन हेतु और फलमेंसे पहले कौन हुआ—सो बतलाओ; जिसकी पूर्वसिद्धिकी अपेक्षासे पीछे होनेवालेकी सिद्धि मानी जाय?—यह इसका तात्पर्य है॥ १८॥



अथैतन्न शक्यते वक्तुमिति मन्यसे,

और यदि तुम ऐसा मानते हो कि यह नहीं बतलाया जा सकता तो—

अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथ वा पुनः।
एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता॥ १९॥

यह अशक्ति (असामर्थ्य) अज्ञान है अथवा फिर तो इससे उपर्युक्त क्रमका भी विपर्यय हो जाता है [क्योंकि इनके पूर्वापरत्वका ज्ञान न होनेसे इनमें जो पूर्ववर्ती है वह कारण है और पीछे होनेवाला कार्य है ऐसा कोई नियम भी नहीं रह सकता]। इस प्रकार उन बुद्धिमानोंने सर्वथा अजातिको ही प्रकाशित किया है॥ १९॥

सेयमशक्तिरपरिज्ञानं तत्त्वाविवेको मूढतेत्यर्थः। अथवा योऽयं त्वयोक्तः क्रमो हेतोः फलस्य सिद्धिः फलाच्च हेतोः सिद्धिरितीतरेतरानन्तर्यलक्षणस्तस्य कोपो विपर्यासोऽन्यथाभावः स्यादित्यभिप्रायः। एवं हेतुफलयोः कार्यकारणभावादुपपत्तेरजातिः सर्वस्यानुत्पत्तिः परिदीपिता प्रकाशितान्योन्यपक्षदोषं ब्रुवद्भिर्वादिभिर्बुद्धैः पण्डितैरित्यर्थः॥ १९॥

यह अशक्ति [तुम्हारा] अपरिज्ञान—तत्त्वका अविवेक अर्थात् मूढ़ता ही है। अथवा तुमने जो एक-दूसरेका पौर्वापर्यरूप यह क्रम बतलाया है कि हेतुसे फलकी सिद्धि होती है और फलसे हेतुकी, उसका कोप—विपर्यास अर्थात् अन्यथाभाव हो जायगा—ऐसा इसका अभिप्राय है। इस प्रकार हेतु और फलका कार्य-कारणभाव असम्भव होनेके कारण एक-दूसरेके पक्षका दोष बतलानेवाले प्रतिपक्षी बुद्धिमानों अर्थात् पण्डितोंने सबकी अजाति—अनुत्पत्ति ही प्रकाशित की है॥ १९॥



ननु हेतुफलयोः कार्यकारणभाव इत्यस्माभिरुक्तं शब्दमात्रमाश्रित्यच्छलमिदं त्वयोक्तं पुत्राज्जन्म पितुर्यथा, विषाणवच्चासम्बन्ध इत्यादि। न ह्यस्माभिरसिद्धाद्धेतोः फलसिद्धिरसिद्धाद्वा फलाद्धेतुसिद्धिरभ्युपगता। किं तर्हि? बीजाङ्कुरवत्कार्यकारणभावोऽभ्युपगम्यत इति।

पूर्व०—हमने जो कहा कि हेतु और फलका परस्पर कार्य-कारणभाव है, सो तुमने हमारे शब्दमात्रको पकड़कर छलपूर्वक ऐसा कह दिया कि 'जैसे पुत्रसे पिताका जन्म होना है' '[दायें-बायें] सींगोंके समान [उनका परस्पर] सम्बन्ध ही नहीं हो सकता' इत्यादि। हमने असिद्ध हेतुसे फलकी सिद्धि अथवा असिद्ध फलसे हेतुकी सिद्धि कभी नहीं मानी तो फिर क्या माना है? हम तो बीज और अङ्कुरके समान केवल उनका कार्य-कारणभाव मानते हैं।

अत्रोच्यते—

सिद्धान्ती—इसपर हमें यह कहना है कि—

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि सः।
न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते॥ २०॥

बीजाङ्कुर नामका जो दृष्टान्त है वह तो सदा साध्यके ही समान है। और जो हेतु साध्यके ही सदृश होता है वह साध्यकी सिद्धिमें उपयोगी नहीं होता॥ २०॥

बीजाङ्कुरदृष्टान्तस्य साध्यसमत्वम्

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तो यः स साध्येन तुल्यो ममेत्यभिप्रायः। ननु प्रत्यक्षः कार्यकारणभावो बीजाङ्कुरयोरनादिः? न, पूर्वस्य पूर्वस्यापरवदादिमत्त्वाभ्युपगमात्। यथेदानीमुत्पन्नोऽपरोऽङ्कुरो बीजादादिमान्बीजं चापरमन्यस्मादङ्कुरादिति क्रमेणोत्पन्नत्वादादिमत्। एवं पूर्वः पूर्वोऽङ्कुरो बीजं च पूर्वं पूर्वमादिमदेवेति प्रत्येकं सर्वस्य बीजाङ्कुरजातस्यादिमत्त्वात्कस्यचिदप्यनादित्वानुपपत्तिः। एवं हेतुफलानाम्।

बीजाङ्कुर नामका जो दृष्टान्त है वह तो साध्यके ही समान है—ऐसा मेरा अभिप्राय है। यदि कहो कि बीज और अङ्कुरका कार्य-कारणभाव तो प्रत्यक्ष ही अनादि है तो ऐसी बात नहीं है क्योंकि उनमेंसे पूर्व-पूर्व [अङ्कुर और फल] को परवर्तियोंके समान आदिमान् माना गया है। जिस प्रकार इस समय बीजसे उत्पन्न हुआ दूसरा अङ्कुर आदिमान् है उसी प्रकार क्रमशः दूसरे अङ्कुरसे उत्पन्न हुआ दूसरा बीज भी आदिमान् है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व अङ्कुर और पूर्व-पूर्व बीज आदिमान् ही है। अतः सम्पूर्ण बीजाङ्कुरवर्गका प्रत्येक बीज और अङ्कुर आदिमान् होनेके कारण किसीका भी अनादि होना असम्भव है। यही न्याय हेतु और फलके विषयमें भी समझना चाहिये।

बीजाङ्कुर-सन्ततिनिरासः

अथ बीजाङ्कुरसन्ततेरनादिमत्त्वमिति चेत्? न, एकत्वानुपपत्तेः। न हि बीजाङ्कुरव्यतिरेकेण बीजाङ्कुरसन्ततिर्नामैकाभ्युपगम्यते हेतुफलसन्ततिर्वा तदनादित्ववादिभिः। तस्मात्सूक्तं हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यत इति। तथा चान्यदप्यनुपपत्तेर्नच्छलमित्यभिप्रायः। न च लोके साध्यसमो हेतुः साध्यसिद्धौ सिद्धिनिमित्तं प्रयुज्यते प्रमाणकुशलैरित्यर्थः। हेतुरिति दृष्टान्तोऽत्राभिप्रेतः, गमकत्वात्। प्रकृतो हि दृष्टान्तो न हेतुरिति॥ २०॥

यदि कहो कि बीजाङ्कुरपरम्परा तो अनादि हो ही सकती है; तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि उसका एकत्व नहीं माना गया। हेतु-फलका अनादित्व प्रतिपादन करनेवालोंने बीज और अङ्कुरसे भिन्न बीजाङ्कुरपरम्परा अथवा हेतुफलपरम्परा नामका कोई एक स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना। अतः 'वे लोग हेतु और फलका अनादित्व किस प्रकार प्रतिपादन करते हैं' यह कथन बहुत ठीक है। इसके सिवा अनुपपत्ति होनेके कारण भी हमारा कथन छल नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है। अभिप्राय यह है कि लोकमें प्रमाणकुशल पुरुषोंद्वारा साध्यकी सिद्धिके लिये साध्यके ही सदृश हेतुका प्रयोग नहीं किया जाता। यहाँ 'हेतु' शब्दका अभिप्राय दृष्टान्त है, क्योंकि वह उसीका ज्ञापक है; यहाँ दृष्टान्तका ही प्रकरण भी है—हेतुका नहीं॥ २०॥



अजातवाद-निरूपण

कथं बुद्धैरजातिः परिदीपितेत्याह—

पण्डितोंने अजातिको ही किस प्रकार प्रकाशित किया है? इसपर कहते हैं—

पूर्वापरापरिज्ञानमजातेः परिदीपकम्।
जायमानाद्धि वै धर्मात्कथं पूर्वं न गृह्यते॥ २१॥

[हेतु और फलके] पौर्वापर्यका जो अज्ञान है वह अनुत्पत्तिका ही प्रकाशक है, क्योंकि यदि कार्य [सचमुच] उत्पन्न हुआ होता तो उसका कारण क्यों न ग्रहण किया जाता?॥ २१ ॥

यदेतद्धेतुफलयोः पूर्वापरापरिज्ञानं तच्चैतदजातेः परिदीपकमवबोधकमित्यर्थः। जायमानो हि चेद्धर्मो गृह्यते, कथं तस्मात्पूर्वं कारणं न गृह्यते। अवश्यं हि जायमानस्य ग्रहीत्रा तज्जनकं ग्रहीतव्यम्। जन्यजनकयोः सम्बन्धस्यानपेतत्वात्। तस्मादजातिपरिदीपकं तदित्यर्थः॥ २१ ॥

यह जो हेतु और फलके पौर्वापर्यका अज्ञान है वह अजातिका ही परिदीपक अर्थात् ज्ञापक है। यदि कार्य उत्पन्न होता ग्रहण किया जाता है तो उससे पूर्ववर्ती कारण क्यों नहीं ग्रहण किया जाता? उत्पन्न होनेवाली वस्तुको ग्रहण करनेवाले पुरुषद्वारा उसकी उत्पत्तिका कारण भी अवश्य ही ग्रहण किया जाना चाहिये, क्योंकि जन्य और जनक पदार्थोंका सम्बन्ध अनिवार्य है। इसलिये तात्पर्य यह है कि यह अजातिका ही प्रकाशक है॥ २१ ॥



सदसदादिवादोंकी अनुपपत्ति

इतश्च न जायते किंचित्, यज्जायमानं वस्तु—

इसलिये भी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि उत्पन्न होनेवाली वस्तु—

स्वतो वा परतो वापि न किंचिद्वस्तु जायते।
सदसत्सदसद्वापि न किंचिद्वस्तु जायते॥ २२ ॥

स्वतः अथवा परतः [किसी भी प्रकार] कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती; क्योंकि सत्, असत् अथवा सदसत् ऐसी कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती॥ २२ ॥

स्वतः परत उभयतो वा सदसत्सदसद्वा न जायते न तस्य केनचिदपि प्रकारेण जन्म सम्भवति। न तावत्स्वयमेवापरिनिष्पन्नात्स्वतः स्वरूपात्स्वयमेव जायते यथा घटस्तस्मादेव घटात्। नापि परतोऽन्यस्मादन्यो यथा घटात्पटः पटात्पटान्तरम्। तथा नोभयतः, विरोधात्; यथा घटपटाभ्यां घटः पटो वा न जायते।

अपनेसे, दूसरेसे अथवा दोनोंहीसे सत्, असत् अथवा सदसद्रूपसे उत्पन्न नहीं होती—किसी भी प्रकार उसका जन्म होना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार घड़ा उसी घड़ेसे उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार कोई भी वस्तु स्वयं अपने अपरिनिष्पन्न (पूर्णतया तैयार न हुए) स्वरूपसे स्वतः ही उत्पन्न नहीं हो सकती। और न किसी अन्यसे ही अन्यकी उत्पत्ति हो सकती है; जैसे घटसे पटकी अथवा पटसे पटान्तरकी। तथा इसी तरह, विरोध होनेके कारण दोनोंसे भी किसीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; जिस प्रकार कि घट और पट दोनोंसे घट या पट कोई उत्पन्न नहीं हो सकता।

ननु मृदो घटो जायते पितुश्च पुत्रः। सत्यम्, अस्ति जायत इति प्रत्ययः शब्दश्च मूढानाम्। तावेव शब्दप्रत्ययौ विवेकिभिः परीक्ष्येते किं सत्यमेव तावुत मृषेति। यावता परीक्ष्यमाणे शब्दप्रत्ययविषयं वस्तु घटपुत्रादिलक्षणं शब्दमात्रमेव तत्। "वाचारम्भणम्" (छा० उ० ६। १। ४) इति श्रुतेः।

यदि कहो कि मिट्टीसे घड़ा उत्पन्न होता है और पितासे पुत्रका जन्म होता है तो; ठीक है, परन्तु 'उत्पन्न होता है' ऐसा शब्द और उसकी प्रतीति मूर्खोंको ही हुआ करती है। विवेकी लोग तो उन शब्द और प्रतीतिकी—वे सत्य हैं अथवा मिथ्या—इस प्रकार परीक्षा किया करते हैं। किन्तु परीक्षा की जानेपर तो शब्द और उसकी प्रतीतिकी विषयभूत घट अथवा पुत्रादिरूप वस्तु केवल शब्दमात्र ही है; जैसा कि "वाचारम्भणम्" इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित होता है।

सच्चेन्न जायते सत्त्वान्मृत्पित्रादिवत्। यद्यसत्तथापि न जायतेऽसत्त्वादेव शशविषाणादिवत्। अथ सदसत्तथापि न जायते विरुद्धस्यैकस्यासम्भवात्। अतो न किंचिद्वस्तु जायत इति सिद्धम्।

यदि वस्तु सत् (विद्यमान) है तो मृत्तिका और पिता आदिके समान सत् होनेके कारण ही उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि असत् है तो भी शशशृङ्गादिके समान असत् होनेके कारण ही उत्पन्न नहीं हो सकती। और यदि सदसत् है तो भी उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि एक ही वस्तु विरुद्ध स्वभाववाली होनी असम्भव है। अतः यही सिद्ध हुआ कि कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती।

येषां पुनर्जनिरेव जायत इति क्रियाकारकफलैकत्वम् अभ्युपगम्यते क्षणिकत्वं च वस्तुनः, ते दूरत एव न्यायापेताः। इदमित्थमित्यवधारणक्षणान्तरानवस्थानादननुभूतस्य स्मृत्यनुपपत्तेश्च॥ २२॥

इसके विपरीत जिन (बौद्धों) के मतमें जन्मक्रियाका ही जन्म होता है—इस प्रकार जो क्रिया, कारक और फलकी एकता तथा वस्तुका क्षणिकत्व स्वीकार करते हैं वे तो बिलकुल ही युक्तिशून्य हैं क्योंकि 'यह ऐसा है' इस प्रकार निश्चय करनेके क्षणसे दूसरे ही क्षणमें स्थिति न रहनेके कारण [पदार्थका अनुभव नहीं हो सकता]; और बिना अनुभव हुए पदार्थकी स्मृति होना असम्भव है॥ २२॥



हेतु-फलका अनादित्व उनकी अनुत्पत्तिका सूचक है

किं च हेतुफलयोरनादित्वमभ्युपगच्छता त्वया बलाद्धेतुफलयोरजन्मैवाभ्युपगतं स्यात्। तत्कथम्?

यही नहीं, हेतु और फलका अनादित्व स्वीकार करनेवाले तुम्हारे द्वारा तो बलात् हेतु और फलकी अनुत्पत्ति ही स्वीकार कर ली गयी है। सो किस प्रकार?

हेतुर्न जायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः।
आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते॥ २३॥

अनादि फलसे कोई हेतु उत्पन्न नहीं हो सकता और इसी प्रकार स्वभावसे ही [अनादि हेतुसे] फलकी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जिस वस्तुका कोई आदि (कारण) नहीं होता उसका आदि (जन्म) भी नहीं होता॥ २३॥

अनादेरादिरहितात्फलाद्धेतुर्न जायते। न ह्यनुत्पन्नादनादेः फलाद्धेतोर्जन्मेष्यते त्वया। फलं चादिरहितादनादेर्हेतोरजात्स्वभावत एव निर्निमित्तं जायत इति नाभ्युपगम्यते।

तस्मादनादित्वमभ्युपगच्छता त्वया हेतुफलयोरजन्मैवाभ्युपगम्यते। यस्मादादिः कारणं न विद्यते यस्य लोके तस्य ह्यादिः पूर्वोक्ता जातिर्न विद्यते। कारणवत एव ह्यादिरभ्युपगम्यते नाकारणवतः॥ २३॥

अनादि अर्थात् आदिरहित फलसे हेतु उत्पन्न नहीं होता। जिसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई ऐसे अनादि फलसे तो तुम हेतुका जन्म मानते ही नहीं हो और न ऐसा ही मानते हो कि अनादि—आदिरहित अर्थात् अजन्मा हेतुसे बिना किसी निमित्तके स्वभावतः ही फलकी उत्पत्ति हो जाती है।

अतः हेतु और फलका अनादित्व माननेवाले तुम्हारे द्वारा उनकी अनुत्पत्ति ही स्वीकार कर ली जाती है, क्योंकि लोकमें जिस वस्तुका आदिकारण नहीं होता उसका आदि अर्थात् पूर्वोक्त जन्म भी नहीं होता। जिसका कोई कारण होता है उसीका जन्म भी माना जाता है; कारणरहित पदार्थका नहीं॥ २३॥



बाह्यार्थवाद-निरूपण

उक्तस्यैवार्थस्य दृढीकरणचिकीर्षया पुनराक्षिपति—

पूर्वोक्त अर्थको ही पुष्ट करनेकी इच्छासे फिर दोष प्रदर्शित करते हैं—

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः।
संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता॥ २४॥

प्रज्ञप्ति (शब्दस्पर्शादि ज्ञान) को सनिमित्त (बाह्यविषययुक्त) मानना चाहिये; नहीं तो [शब्दस्पर्शादि] द्वैतका नाश हो जायगा। इसके सिवा [अग्निदाह आदि] क्लेशकी उपलब्धिसे भी अन्य मतावलम्बियोंके शास्त्रद्वारा प्रतिपादित द्वैतकी सत्ता मानी गयी है॥ २४॥

प्रज्ञानं प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिस्तस्याः सनिमित्तत्वम्; निमित्तं कारणं विषय इत्येतत्सनिमित्तत्वं सविषयत्वं स्वात्मव्यतिरिक्तविषयतेत्येतत् प्रतिजानीमहे। न हि निर्विषया प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिः स्यात्, तस्याः सनिमित्तत्वात्। अन्यथा निर्विषयत्वे शब्दस्पर्शनीलपीतलोहितादिप्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य नाशतो नाशोऽभावः प्रसज्येतेत्यर्थः। न च प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्याभावोऽस्ति प्रत्यक्षत्वात्। अतः प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य दर्शनात्, परेषां तन्त्रं परतन्त्रमित्यन्यशास्त्रम्, तस्य परतन्त्रस्य परतन्त्राश्रयस्य बाह्यार्थस्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता मताभिप्रेता।

प्रज्ञान अर्थात् शब्दादि-प्रतीतिका नाम प्रज्ञप्ति है। वह सनिमित्त है। निमित्त-कारण अर्थात् विषयको कहते हैं; अतः सनिमित्त—सविषय यानी अपनेसे अतिरिक्त विषयके सहित है—ऐसी हम [उसके विषयमें] प्रतिज्ञा करते हैं। [अर्थात् हमारा कथन है कि] प्रज्ञप्ति यानी शब्दादि-प्रतीति निर्विषया नहीं हो सकती, क्योंकि वह सनिमित्ता है। अन्यथा उसे निर्विषय माननेपर तो शब्द, स्पर्श एवं नील, पीत और लोहित आदि प्रतीतिकी विचित्रतारूप द्वैतका नाश हो जायगा अर्थात् उसके नाश यानी अभावका प्रसंग उपस्थित हो जायगा और प्रत्यक्ष-सिद्ध होनेके कारण प्रत्ययवैचित्र्यरूप द्वैतका अभाव है नहीं। अतः प्रत्ययवैचित्र्यरूप द्वैतकी उपलब्धिसे, परतन्त्र यानी दूसरोंके शास्त्र; उन परकीय तन्त्रोंका अर्थात् परकीय तन्त्रोंके आश्रित जो प्रज्ञानके अतिरिक्त अन्य बाह्य पदार्थ हैं उनका अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है।

न हि प्रज्ञप्तेः प्रकाशमात्रस्वरूपाया नीलपीतादिबाह्यालम्बनवैचित्र्यमन्तरेण स्वभावभेदेनैव वैचित्र्यं सम्भवति। स्फटिकस्येव नीलाद्युपाध्याश्रयैर्विना वैचित्र्यं न घटत इत्यभिप्रायः।

केवल प्रकाशमात्रस्वरूपा प्रज्ञप्तिकी यह विचित्रता नील-पीतादि बाह्य आलम्बनोंकी विचित्रताके सिवा केवल स्वभावभेदसे ही होनी सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह है कि स्फटिकके समान, नील-पीतादि उपाधियोंको आश्रय किये बिना, यह विचित्रता नहीं हो सकती।

इतश्च परतन्त्राश्रयस्य बाह्यार्थस्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता। संक्लेशनं संक्लेशो दुःखमित्यर्थः। उपलभ्यते ह्यग्निदाहादिनिमित्तं दुःखम्। यद्यग्न्यादिबाह्यं दाहादिनिमित्तं विज्ञानव्यतिरिक्तं न स्यात्ततो दाहादिदुःखं नोपलभ्येत। उपलभ्यते तु। अतस्तेन मन्यामहेऽस्ति बाह्योऽर्थ इति। न हि विज्ञानमात्रे संक्लेशो युक्तः, अन्यत्रादर्शनादित्यभिप्रायः। २४।

इसके सिवा इसलिये भी दूसरोंके शास्त्रोंके आश्रित ज्ञानव्यतिरिक्त बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व स्वीकार किया गया है कि अग्निदाहादिके कारणसे होनेवाला संक्लेश यानी दुःख उपलब्ध होता है। संक्लेशका अर्थ संक्लेशन अर्थात् दुःख है। यदि विज्ञानसे अतिरिक्त दाहादिका निमित्तभूत अग्नि आदि कोई बाह्य पदार्थ न होता तो दाहादिजनित दुःख उपलब्ध नहीं होना चाहिये था। किन्तु उपलब्ध होता ही है; इससे हम मानते हैं कि बाह्य पदार्थ अवश्य है। अभिप्राय यह है कि केवल विज्ञानमात्रमें क्लेश होना सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्यत्र ऐसा नहीं देखा गया॥ २४॥



विज्ञानवादिकर्तृक बाह्यार्थवादनिषेध

अत्रोच्यते—

इस विषयमें हमारा कथन है कि—

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात्।
निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात्॥ २५॥

पूर्वोक्त युक्तिके अनुसार तुम प्रज्ञप्तिका सविषयत्व स्वीकार करते हो। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे हम उस विषयका अविषयत्व मानते हैं॥ २५॥

बाढमेवं प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वं द्वयसंक्लेशोपलब्धियुक्तिदर्शनादिष्यते त्वया। स्थिरीभव तावत्त्वं युक्तिदर्शनं वस्तुनस्तथात्वाभ्युपगमे कारणमित्यत्र।

ब्रूहि किं तत इति।

उच्यते। निमित्तस्य प्रज्ञप्त्यालम्बनाभिमतस्य घटादेरनिमित्तत्वमनालम्बनत्वं वैचित्र्याहेतुत्वमिष्यतेऽस्माभिः। कथम्? भूतदर्शनात्परमार्थदर्शनादित्येतत्। न हि घटो यथाभूतमृद्रूपदर्शने सति तद्व्यतिरेकेणास्ति, यथाश्वान्महिषः पटो वा तन्तुव्यतिरेकेण, तन्तवश्चांशुव्यतिरेकेणेत्येवमुत्तरोत्तरभूतदर्शन आ शब्दप्रत्ययनिरोधान्नैव निमित्तमुपलभामह इत्यर्थः।

ठीक है, इस प्रकार दुःखमय द्वैतकी उपलब्धिरूप युक्तिके अनुसार तुम प्रज्ञप्तिका सविषयत्व स्वीकार करते हो; परन्तु 'युक्तिदर्शन वस्तुकी यथार्थताके ज्ञानमें कारण है'—अपने इस सिद्धान्तमें तुम स्थिर हो जाओ।

बाह्यार्थवादी—कहिये, उससे क्या आपत्ति होती है?

विज्ञानवादी—हमारा कथन है कि प्रज्ञप्तिके आश्रयरूपसे स्वीकार किये हुए घटादि विषयका हम अविषयत्व-प्रतीतिका अनाश्रयत्व अर्थात् विचित्रताका अहेतुत्व मानते हैं। कैसे मानते हैं? भूतदृष्टिसे अर्थात् परमार्थदृष्टिसे। जिस प्रकार अश्वसे महिष पृथक् है, उस प्रकार मृत्तिकाके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेपर, घट उससे पृथक् सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार तन्तुसे पृथक् पट और अंशुसे पृथक् तन्तु भी सिद्ध नहीं होते। तात्पर्य यह है कि इसी तरह उत्तरोत्तर यथार्थ तत्त्वको देखते-देखते शब्द प्रतीतिका निरोध हो जानेपर हम कोई भी विषय नहीं देखते।

अथवाभूतदर्शनाद्बाह्यार्थस्यानिमित्तत्वमिष्यते, रज्ज्वादाविव सर्पादेरित्यर्थः। भ्रान्तिदर्शनविषयत्वाच्च निमित्तस्यानिमित्तत्वं भवेत्। तदभावेऽभावात्। न हि सुषुप्तसमाहितमुक्तानां भ्रान्तिदर्शनाभाव आत्मव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थ उपलभ्यते। न ह्युन्मत्तावगतं वस्त्वनुन्मत्तैरपि तथाभूतं गम्यते। एतेन द्वयदर्शनं संक्लेशोपलब्धिश्च प्रत्युक्ता॥ २५॥

अथवा [यों समझो कि] जिस प्रकार रज्जु आदिमें आरोपित सर्पादि वस्तुतः प्रतीतिके आलम्बन नहीं हैं उसी प्रकार अभूतदर्शनके कारण हम बाह्यार्थोंको प्रतीतिका आलम्बन नहीं मानते। भ्रान्तिदृष्टिके विषय होनेके कारण इन निमित्तोंका अनिमित्तत्व है, क्योंकि उसका अभाव होनेपर इनकी भी उपलब्धि नहीं होती। सोये हुए, समाधिस्थ और मुक्त पुरुषोंको, उनकी भ्रान्तिदृष्टिका अभाव हो जानेपर, आत्मासे अतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थकी उपलब्धि नहीं होती। उन्मत्त पुरुषको दिखायी देनेवाली वस्तु उन्मादशून्य मनुष्यको भी यथार्थ नहीं जान पड़ती। इस कथनसे द्वैतदर्शन और क्लेशकी उपलब्धि दोनोंहीका निराकरण किया गया है॥ २५॥



यस्मान्नास्ति बाह्यं निमित्तमतः—

क्योंकि बाह्य विषय है ही नहीं, इसलिये—

चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक्॥ २६॥

चित्त किसी पदार्थका स्पर्श नहीं करता और इसी प्रकार न किसी अर्थाभासका ही ग्रहण करता है। क्योंकि पदार्थ है ही नहीं, इसलिये पदार्थाभास भी उस चित्तसे पृथक् नहीं है॥ २६॥

चित्तं न स्पृशत्यर्थं बाह्यालम्बनविषयम्, नाप्यर्थाभासं चित्तत्वात्स्वप्नचित्तवत्। अभूतो हि जागरितेऽपि स्वप्नार्थवदेव बाह्यः शब्दाद्यर्थो यत उक्तहेतुत्वाच्च। नाप्यर्थाभासश्चित्तात्पृथक्चित्तमेव हि घटाद्यर्थवदवभासते यथा स्वप्ने॥ २६॥

चित्त, चित्त होनेके कारण ही स्वप्नचित्तके समान, बाह्य आलम्बनके विषयभूत किसी पदार्थको स्पर्श नहीं करता और न अर्थाभासको ही ग्रहण करता है, क्योंकि उपर्युक्त हेतुसे ही स्वप्नगत पदार्थोंके समान जागरित अवस्थामें भी शब्दादि बाह्य पदार्थ हैं नहीं और न चित्तसे पृथक् अर्थाभास ही है। घटादि पदार्थोंके समान चित्त ही भासता है, जैसा कि वह स्वप्नमें भासा करता है॥ २६॥



ननु विपर्यासस्तर्ह्यसति घटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य। तथा च सत्यविपर्यासः क्वचिद्वक्तव्य इति। अत्रोच्यते—

घटादिके न होनेपर भी चित्तको घटादिकी प्रतीति होना—यह तो विपरीत ज्ञान है। ऐसी अवस्थामें अविपरीत (सम्यक्) ज्ञान कब होगा? यह बतलाना चाहिये। इसपर कहते हैं—

निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृशत्यध्वसु त्रिषु।
अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति॥ २७॥

[भूत, भविष्यत् और वर्तमान] तीनों अवस्थाओंमें चित्त कभी किसी विषयको स्पर्श नहीं करता। फिर उसे बिना निमित्तके ही विपरीत ज्ञान कैसे हो सकता है?॥ २७॥

निमित्तं विषयमतीतानागतवर्तमानाध्वसु त्रिष्वपि सदा चित्तं न स्पृशेदेव हि। यदि हि क्वचित् संस्पृशेत् सोऽविपर्यासः

अतीत, अनागत और वर्तमान—इन तीनों ही अवस्थाओंमें चित्त कभी निमित्त यानी विषयको स्पर्श नहीं करता। यदि वह कभी उसे स्पर्श करता तो 'वह अविपर्यास

परमार्थ इति। अतस्तदपेक्षयासति घटे घटाद्याभासता विपर्यासः स्यात्र तु तदस्ति कदाचिदपि चित्तस्यार्थसंस्पर्शनम्। तस्मादनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य चित्तस्य भविष्यति; न कथंचिद्विपर्यासोऽस्तीत्यभिप्रायः। अयमेव हि स्वभावश्चित्तस्य यदुतासति निमित्ते घटादौ तद्वदवभासनम्॥२७॥

अर्थात् परमार्थ है' ऐसा माना जाता। अतः उसकी अपेक्षासे ही घटके न होनेपर भी घटका प्रतीत होना विपर्यास कहलाता। किन्तु चित्तका पदार्थके साथ कभी स्पर्श है ही नहीं। अतः बिना निमित्तके ही उस चित्तको विपरीत ज्ञान कैसे हो सकता है? तात्पर्य यह है कि उसे किसी प्रकार विपरीत ज्ञान है ही नहीं। चित्तका यही स्वभाव है कि घटादि निमित्तके न होनेपर भी उनकी प्रतीति होती रहे॥ २७॥



विज्ञानवादका खण्डन

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमित्याद्येतदन्तं विज्ञानवादिनो बौद्धस्य वचनं बाह्यार्थवादिपक्षप्रतिषेधपरमाचार्येणानुमोदितम्। तदेव हेतुं कृत्वा तत्पक्षप्रतिषेधाय तदिदमुच्यते—

"प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वम्" इस (पच्चीसवें) श्लोकसे लेकर यहाँतक आचार्यने विज्ञानवादी बौद्धके, बाह्यार्थवादीके पक्षका प्रतिषेध करनेवाले वचनका अनुमोदन किया। अब उसीको हेतु बनाकर उसीके पक्षका प्रतिषेध करनेके लिये इस प्रकार कहा जाता है—

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम्॥ २८॥

इसलिये चित्त भी उत्पन्न नहीं होता और न चित्तका दृश्य ही उत्पन्न होता है। जो लोग उसका जन्म देखते हैं वे निश्चय ही आकाशमें [पक्षी आदिके] चरण (चरण-चिह्न) देखते हैं॥ २८॥

यस्मादसत्येव घटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य विज्ञानवादिनाभ्युपगता तदनुमोदितम् अस्माभिरपि भूतदर्शनात्, तस्मात्तस्यापि चित्तस्य जायमानावभासतासत्येव जन्मनि युक्ता भवितुमित्यतो न जायते चित्तम्, यथा चित्तदृश्यं न जायते।

अतस्तस्य चित्तस्य ये जातिं पश्यन्ति विज्ञानवादिनः क्षणिकत्वदुःखित्वशून्यत्वानात्मत्वादि च, तेनैव चित्तेन चित्तस्वरूपं द्रष्टुमशक्यं पश्यन्तः खे वै पश्यन्ति ते पदं पक्ष्यादीनाम्। अत इतरेभ्योऽपि द्वैतिभ्योऽत्यन्तसाहसिका इत्यर्थः। येऽपि शून्यवादिनः पश्यन्त एव सर्वशून्यतां स्वदर्शनस्यापि शून्यतां प्रतिजानते ते ततोऽपि साहसिकतराः खं मुष्टिनापि जिघृक्षन्ति॥ २८॥

क्योंकि विज्ञानवादीने घटादिके न होनेपर भी चित्तको घटादिकी प्रतीति होनी स्वीकार की है और यथार्थदृष्टि होनेके कारण उसका हमने भी अनुमोदन किया है, इसलिये उसकी मानी हुई चित्तकी उत्पत्तिकी प्रतीति भी उसकी उत्पत्तिके अभावमें ही होनी सम्भव है। अतः जिस प्रकार चित्तके दृश्यका जन्म नहीं होता उसी प्रकार चित्तकी भी उत्पत्ति नहीं होती।

इसलिये जो विज्ञानवादी उस चित्तकी उत्पत्ति तथा उसके क्षणिकत्व, दुःखित्व, शून्यत्व एवं अनात्मत्व आदि देखते हैं—उस चित्तसे ही, जिसका देखना सर्वथा असम्भव है, ऐसे चित्तके स्वरूपको देखनेवाले वे निश्चय ही आकाशमें पक्षी आदिके चरण देखते हैं। अतः तात्पर्य यह है कि वे अन्य द्वैतवादियोंकी अपेक्षा भी अधिक साहसी हैं। और जो शून्यवादी सबकी शून्यता देखते हुए अपने दर्शनकी भी शून्यताकी प्रतिज्ञा करते हैं वे तो उनसे भी बढ़कर साहसी हैं—वे आकाशको मुट्ठीसे ही पकड़ना चाहते हैं॥ २८॥

उपक्रमका उपसंहार

उक्तैर्हेतुभिरजमेकं ब्रह्मेति सिद्धं यत्पुनरादौ प्रतिज्ञातं तत्फलोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः—

पूर्वोक्त हेतुओंसे यह सिद्ध हुआ कि एक अजन्मा ब्रह्म ही है। अब, पहले जिसकी प्रतिज्ञा की है उसके फलका उपसंहार करनेके लिये यह श्लोक है—

अजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्ततः।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति॥ २९॥

क्योंकि अजन्मा [चित्त] का ही जन्म होता है, इसलिये अजाति ही उसका स्वभाव है; और स्वभावकी विपरीतता किसी प्रकार नहीं होगी॥ २९॥

अजातं यच्चित्तं ब्रह्मैव जायत इति वादिभिः परिकल्प्यते तदजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्तस्य। ततस्तस्मादजातरूपायाः प्रकृतेरन्यथाभावो जन्म न कथंचिद्भविष्यति॥ २९॥

अजात जो ब्रह्मरूप चित्त है वही उत्पन्न होता है—ऐसी वादियोंद्वारा कल्पना की जाती है; क्योंकि उस अजातका ही जन्म होता है, इसलिये अजाति उसका स्वभाव है तब, इसीलिये उस अजातरूप स्वभावका जन्मरूप विपरीतभाव किसी प्रकार नहीं होगा॥ २९॥



अयं चापर आत्मनः संसारमोक्षयोः परमार्थसद्भाववादिनां दोष उच्यते—

आत्माके संसार और मोक्ष—दोनोंहीका पारमार्थिक अस्तित्व स्वीकार करनेवाले वादियोंके पक्षका यह एक दूसरा दोष बतलाया जाता है—

अनादेरन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति।
अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति॥ ३०॥

अनादि संसारका तो कभी अन्तवत्त्व सिद्ध नहीं हो सकेगा और सादि मोक्षकी कभी अनन्तता नहीं हो सकेगी॥ ३०॥

अनादेरतीतकोटिरहितस्य संसारस्यान्तवत्त्वं समाप्तिर्न सेत्स्यति युक्तितः सिद्धिं नोपयास्यति। न ह्यनादिः सन्नन्तवान्कश्चित्पदार्थो दृष्टो लोके। बीजाङ्कुरसम्बन्धनैरन्तर्यविच्छेदो दृष्ट इति चेत्, न; एकवस्त्वभावेनापोदितत्वात्।

अनादि—अतीतकोटिसे रहित संसारका अन्तवत्त्व अर्थात् समाप्त होना युक्तिसे सिद्ध नहीं होगा। लोकमें कोई भी पदार्थ अनादि होकर अन्तवान् होता नहीं देखा गया है। यदि कहो कि बीजाङ्कुरसम्बन्धकी निरन्तरताका विच्छेद होता देखा गया है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि बीजाङ्कुरसन्तति कोई एक पदार्थ न होनेके कारण उसके अनादित्वका निराकरण तो पहले कर दिया गया है।

तथानन्ततापि विज्ञानप्राप्तिकालप्रभवस्य मोक्षस्यादिमतो न भविष्यति, घटादिष्वदर्शनात्। घटादिविनाशवदवस्तुत्वाददोष इति चेत्, तथा च मोक्षस्य परमार्थसद्भावप्रतिज्ञाहानिः। असत्त्वादेव शशविषाणस्येवादिमत्त्वाभावश्च॥ ३०॥

इसी प्रकार विज्ञानप्राप्तिके समय होनेवाले सादि मोक्षकी अनन्तता भी नहीं होगी, क्योंकि घटादि [जन्य पदार्थों] में ऐसा देखा नहीं गया। यदि कहो कि घटादिनाशके समान अवस्तुरूप होनेसे [मोक्षमें] यह दोष नहीं आ सकता तो इससे मोक्षके पारमार्थिक सद्भावविषयक प्रतिज्ञाकी हानि होगी। इसके सिवा [यदि मोक्षको असद्रूप ही माना जाय तो भी] शशशृङ्गके समान असत् होनेके कारण भी उसके आदिमत्त्वका अभाव ही है॥ ३०॥